हिन्दू-धर्म के ज्ञान-मय क्रिया-पक्ष की शोध-पूर्ण प्रस्तुति

'कौल-कल्पतरु'

चण्डी

(सं० १९९९ वि०-सन् १९४२ ई० से प्रकाशित)

स्वर्ण-जयन्ती वर्ष

मन्त्र-कल्पतरु

(२)

'मन्त्र' शब्द का अर्थ है विचार—इस प्रकार का विचार, जिसके जप या रटन द्वारा वह मन में स्थिर हो जाए। जिससे मन उन्नत होकर अपने उच्च ध्येय में स्थिर हो, उसको 'मन्त्र' कहते हैं। मन द्वारा साधक अपने उपास्य देव की याद करता है।

कान फूकना 'मन्त्र' नहीं है। विचार का ग्रहण करना ही 'मन्त्र' है। अनुभवी लोग, जिन्होंने अध्ययन किया है, बताते हैं कि उत्तम मार्ग में प्रवृत्त होकर जिससे साधक अपनी आत्मा को उन्नत कर स्थिर हो सके, वह 'मन्त्र' है। उत्तम मार्ग-दर्शन करनेवाला है 'गुरु' और जिसको गुरु बताता है, वह है 'शिष्य'। साधक विचार करता हुआ, जप करता हुआ जिस लक्ष्य से उत्तम मार्ग पर स्थिर हो सके, उसका उपदेश करना ही है—'मन्त्रोपदेश'।

जगन्नियन्ता प्रभु अमुकामुक अनन्त भाव-मय महा-गुणों से परिपूर्ण हैं। 'मन' की एकाग्रता से निर्मित शून्य में लक्ष्य का विचार-भाव भरने की क्रिया को 'मन्त्रार्थ-ज्ञान' कहते हैं।

यह प्रति ४-५० रु०/वार्षिक मूल्य ५० रु०

'चण्डी' के प्रवर्त्तक 'कौल-कल्पतरु' पण्डित देवीदत्त शुक्ल विरचित

गुरु-स्तव

सुन्दर गौर स्वरूप ललाम, विलोकि विलोचन कामहु लाजै ।
माथ सु-सेंदुर अङ्गनि भस्म, सु-वामहि भामिनि की छवि छाजै ।।
गोमुखि हाथ सु-ध्यान निमग्न, जपैं वर मन्त्र सदा शुभ काजै ।
श्रीगुरु-देव महान उदार, महेश - स्वरूप प्रसन्न विराजैं ।।१

दै वर मन्त्र हरैं पशु - भाव, बनावत वीर सदा सुख पावैं ।
देत रहैं उपदेश सदैव, प्रदानत ज्ञान सु-राह दिखावैं ।
दै सम बुद्धि मिटावत भेद, करैं निज तुल्य कु-भीति भगावैं ।
श्रीगुरु आनँद-रूप सु-सिद्ध, ऋषीश्वर नाथ भले मन भावैं ।।२

लाय दया उर तत्त्व प्रबोधत, अज्ञन को वर विज्ञ बनावैं ।
जा विधि पार करैं भव-सिन्धुहिं, भक्तन ताहि विचारि बतावैं ।।
'हुं' करि दूरि भगावत आपद, भ्रान्तन की सब भ्रान्ति मिटावैं ।
श्रीगुरु - देव अपार दया - मय, पामर पापिन को अपनावैं ।। ३

दिव्य स्वरूप प्रसन्न मुखाकृति, लोचन लोल दया-रस गारे ।
भक्तन को हित ही नित सोचत, दारुण दुःख मिटावन-हारे ।।
शम्भु-समान समाधि लगावत, विघ्नन को करि एक किनारे ।
श्रीगुरु-देव दयालु महा - प्रभु, शील-निधान विवेक सँवारे ।। ४

जा विधि होत त्रि-ताप विनष्ट, उपाय बताय दया दिखरावैं ।
जीवन-नाव लगै चलि पार, सु-मारग आपुहि धाय दिखावैं ।।
पूर्ण दयालु चरित्रब सुनावैं ।विलक्षण मूर्ति,- निरन्त आम्र
श्रीगुरु - देव उदार महान, सु - भक्तन के मन में घर पावैं ।। ५

कौल-कल्पतरु

चण्डी

वर्ष ५०] आषाढ़, 'तारण' २०४८ वि०—जुलाई, १९९१ [संख्या ४

१ श्रद्धा और आत्म-विश्वास : श्री स्वामी नारायणानन्द सरस्वती, ऋषिकेश २
२ पुस्तक-चर्चा : शाबर-मन्त्र-संग्रह (भाग १) ३
३ जिज्ञासु के पत्र ४
४ चक्र की कुछ बातें : 'कुल-भूषण' पं० रमादत्त शुक्ल, एम० ए० ६

ॐ ह्रीं

मन्त्र - कल्पतरु

['चण्डी' की 'स्वर्ण-जयन्ती' के उपलक्ष्य में प्रकाशित विशेष लेख-माला । चैत्र २०४८ वि०—अप्रैल, १९९१ में प्रकाशित १२ निबन्धों—२४ पृष्ठों के आगे का अंश । इसकी पृष्ठ-संख्या अलग है ।]

१३ मन्त्र - सार साधना : गुप्तावतार बाबाश्री २५
१४ मन्त्र-सिद्धि (३) २६
१५ ॐकार का अनुभूत जप : परम पूज्य ॐ महाराज २७
१६ मन्त्र या देवता-रहस्य : महा-महोपाध्याय गोपीनाथ कविराज ३१
१६ आर्य-शास्त्र और मन्त्र : 'राष्ट्र-गुरु' परम पूज्य स्वामी जी महाराज ३८
१८ मन्त्र-विद्या पर एक दृष्टि : 'राष्ट्र-गुरु' परम पूज्य स्वामी जी महाराज ४०
१९ मन्त्र-शास्त्र और योग : पण्डित श्याम शर्मा वाशिष्ठ, एम० ए० ४१
२० 'मन्त्र' अर्थात् 'बीज-शक्ति' : गुप्तावतार बाबाश्री ४६
२१ 'मन्त्र-शक्ति' और शक्ति-प्रार्थना, संघ-प्रार्थना : गुप्तावतार बाबाश्री ५८

अनमोल विचार

श्रद्धा और आत्म-विश्वास

उस 'एक' की अखण्ड एक-रस सत्ता में पूर्ण 'श्रद्धा' और 'विश्वास' अवश्य रखो। 'श्रद्धा' सरल पगडण्डी और 'विश्वास' राज-मार्ग है उसकी प्राप्ति का। 'श्रद्धा' क्या नहीं कर सकती ? यह चमत्कारों की जननी है। अतएव सदा सात्विक 'श्रद्धा' और विवेक का ही आश्रय ग्रहण करो। डटे रहो अपने दृढ़ निश्चय पर और पक्के बने रहो अपने सत्-सङ्कल्प के !

साधु, सन्त और मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों के शब्दों को आर्ष प्रमाण समझो। विनय, जप और कीर्तन का अभ्यास नियमित रूप से करो। सतत किसी सद्-गुरु के समीप, किसी सद्-गुरु की ही सन्निधि में रह-कर, उपासना गुरुदेव की ही करो और **"गुरुदेव-उपास्यः"**—इस श्रुति- वाक्य को क्रियात्मक रूप से अक्षरशः चरितार्थ करो।

श्री सप्तशती, श्री गीता, रामायण आदि धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन स्वाध्याय के रूप में नियमित रूप से करो। ये सहायक होंगे सात्त्विक 'श्रद्धा' और 'विश्वास' के बीज बोने में; इन्हें अंकुरित, पल्लवित और कुसुमित कर सरस और सु-मधुर-फल-रूप से फल-प्रद करने में। निदान, वह 'श्रद्धा' ही सु-वृहद् भक्ति-विटप के रूप में दृढ़ता-पूर्वक सु-स्थिर होकर हिमाचल की तरह अचल रूप धारण करेगी।

'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं' (गीता ४।३८)—अर्थात् 'श्रद्धा' रखनेवाला ही 'ज्ञान' को प्राप्त करता है। जहाँ 'श्रद्धा' नहीं, वहाँ 'ज्ञान' नहीं है और जहाँ 'ज्ञान' नहीं, वहाँ 'भक्ति' या 'मुक्ति' कहाँ ? जीवन का लक्ष्य 'ज्ञान'-पाना और भक्ति-पूर्वक साधना कर ईश्वर - प्राप्ति ही है। जीवन 'श्रद्धा' है। जीवन ही ज्योति है। जीवन मुक्ति-रूप मोती है। 'श्रद्धा' ही महत्त्व-पूर्ण अखण्डैक रस गुण है **जिज्ञासु मुमुक्षु** का। श्रद्धा-वान् ही सच्चा ज्ञान प्राप्त करता है। कु-सङ्गति, काम, क्रोध, लोभ, **'सुत वित नारि भवन-परिवारा'** का काम-जनित मोह, अयुक्त और अ-रुचि - कर आहार - विहार—ये सभी 'श्रद्धा' के मार्ग में **'रिपूनिव केलि सु-लोलम्'**—शत्रु ही हैं।

'आहार-शुद्धौ सत्त्व-शुद्धिः'—आहार - शुद्धि ही सत्त्व-शुद्धि और सिद्धि की मूल भित्ति है। अतः आयु, सत्त्व, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ानेवाले सात्त्विक आहार को ही ग्रहण करो। नित्य ध्यान करो 'श्रद्धा' और 'भक्ति' से 'सत्यं ज्ञान मनन्त ब्रह्म' का और अपने दिव्य जीवन से दिव्यात्म-लोक को तत्काल प्राप्त कर लो। आत्मा का नित्य सहज आनन्द अनायास ही 'श्रद्धा' की डोर से प्राप्त कर स्वयं आनन्द-ब्रह्म बन जाओ।

पुस्तक-चर्चा—

शाबर-मन्त्र-संग्रह (भाग १)

'शाबर' मन्त्रों के सम्बन्ध में शोधात्मक दृष्टि से उक्त 'संग्रह' पहले-पहल प्रकाशित हुआ है, जिसकी मुक्त कण्ठ से मन्त्र-प्रेमी पाठकों ने प्रशंसा की है, किन्तु सिरपुर कागज नगर (आन्ध्र प्रदेश) के श्री पं० रत्नेश शर्मा ने उसकी यह कहकर आलोचना की है कि उसमें जो मन्त्र प्रकाशित किए गए हैं, उनमें मनमाने ढंग से संशोधन या परिवर्तन किए गए हैं।

यहाँ यह स्पष्ट करना उचित है कि हमें जो मन्त्र जिस रूप में लिखे हुए प्राप्त हुए, यथा—सम्भव उन्हें ज्यों-का-त्यों ही उक्त 'संग्रह' में प्रकाशित किया गया। लोक-भाषा में लिखे मन्त्रों की भाषा को शुद्ध करने का प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु संस्कृत भाषा के शब्दों को भावार्थ के अनुसार शुद्ध करना उचित प्रतीत होता है। तथापि श्री पं० रत्नेश जैसे भक्तों के लिए 'अशुद्ध' पाठ ही मान्य है! आपने लिखा है—

पृष्ठ ४८ पर 'हनुमानजी का झारा' इस प्रकार है—**ॐ नमः वीर राम-दूत चल वेग···।'**

पृष्ठ ६३ पर 'वशीकरण मन्त्र नं. २'—'पीर में नाथ, पीर के साथ···।'

पृष्ठ ६६ पर 'आशु-धन - प्रद महा - लक्ष्मी मन्त्र'—'त्रिभुवन-पालिनि' के स्थान पर **'त्रिभुवन-पालिन्यै महा-लक्ष्म्यै अस्माकं दारिद्र्यं'** होना चाहिए।

शर्मा जी ने यह भी लिखा है कि उनके पास शाबर-मन्त्रों की एक हस्त-लिखित पुस्तक है। प्रश्न है कि आपने उस पुस्तक को अब तक छपवा क्यों नहीं दिया?

पृष्ठ ४८ के 'हनुमत् झारा' एवं पृष्ठ ६३ के वशीकरण मन्त्र नं. २ का पूरा पाठ आपने नहीं लिखा है, केवल प्रारम्भिक शब्द लिखे हैं। इससे क्या लाभ? पूरा पाठ लिखते, तो उसे प्रकाशित कर दिया जाता। शोध - कर्ता या 'शाबर' के मन्त्रज्ञ लोग दोनों की तुलना कर सही पाठ का निर्णय तो कर सकते!

अन्तिम महा-लक्ष्मी के मन्त्र के सम्बन्ध में शर्मा जी ने लिखा है कि **'त्रिभुवन-पालिन्यै महालक्ष्म्यै अस्माकं दारिद्र्यं'** का ही पाठ कर वे भगवती के प्रसाद का लाभ उठा रहे हैं। बड़ी अच्छी बात है। जो चाहें, शर्मा जी के अनुभव का अनुसरण कर सकते हैं।

'शाबर मन्त्र-संग्रह', प्रथम भाग के 'दो शब्द' के पृष्ठ 'सात' पर हमने लिखा है—

···हम पुनः विज्ञ बन्धुओं से प्रार्थना करते हैं कि वे ज्ञात शाबर-मन्त्रों को हमारे पास लिख-कर भेजने की कृपा करें, जिससे हम द्वितीय भाग में उन्हें प्रकाशित कर सर्व-साधारण के लिए सुरक्षित कर सकें···।'

कदाचित्, शर्मा जी जैसे 'आलोचक' बन्धुओं का ध्यान उक्त 'प्रार्थना' के प्रति न गया हो, तो अब वे कृपया ध्यान दें। 'संस्कृत विश्व-विद्यालय, वाराणसी' से शाबर-मन्त्र-सम्बन्धी पाण्डुलिपियाँ हमें प्राप्त हो चुकी हैं और दूसरे भाग का भी अब शीघ्र ही प्रकाशन हो जायगा। इससे **'शाबर मन्त्र-विद्या'** के जिज्ञासुओं को तो सन्तोष मिलेगा ही, तत्सम्बन्धी शोध का मार्ग भी प्रशस्त हो जायगा, ऐसी आशा है।

जिज्ञासु के पत्र

['तन्त्र-मन्त्र और योग-साधना' के प्रामाणिक एवं लाभ-दायक ज्ञान के लिए जिज्ञासु लोग प्रायः अनुभवी साधकों की खोज में रहते हैं। ऐसे किन्हीं पूजनीय साधक का पता लगने पर लोग उनके पास पहुँच जाते हैं और बिना उनकी सुविधा का विचार किए ऊट-पटाँग प्रश्नों से उन्हें तङ्ग कर डालते हैं! साधना की पद्धति सीखने का प्रयास न कर वे चाहते हैं कि उक्त प्रकार के सिद्ध साधक अपनी कृपा मात्र से उनकी सांसारिक कामना की पूर्ति कर दें। अभी २० जुलाई, ६१ को देश के एक प्रख्यात तन्त्रज्ञ मनीषी को, जो ८० से ऊपर की आयु के वयोवृद्ध हैं, एक पत्र मिला। उसे उन्होंने उत्तर देने हेतु 'चण्डी-कार्यालय' को भेजा। उससे उक्त कथन की ही पुष्टि होती है। यहाँ वह पत्र ज्यों-का-त्यों प्रकाशित किया जा रहा है, जिज्ञासाओं के उत्तर के साथ—सं०।]

परम पूज्य ऋषि - स्वरूप पण्डित जी,

पूज्य चरणों में एक जिज्ञासु बालक के शत नमन! पूज्यवर,

आपकी अति वृद्धावस्था का स्मरण कर पूज्य चरणों में कुछ प्रार्थना करना भी अनुचित प्रतीत होता है लेकिन 'चण्डी' में आपके बहुतेरे लेखों को पढ़कर मैं पूज्य चरणों में प्रार्थना करने को बाध्य हूँ। आशा है, मुझे क्षमा करते हुए मेरी जिज्ञासाओं का शमन करने की कृपा करेंगे। मेरा विश्वास है, आपका कृपा - पूर्ण उत्तर मेरे लिए स्मृति-स्मारक-सम पूज्य और पावन रहेगा।

आप मेरी दृष्टि में एक महान् मनीषी ऋषि-कल्प साधक रहे हैं। आपकी अनुभूतियाँ वरेण्य ही नहीं, साधकों के लिए वरदान-स्वरूप सिद्ध होंगी—ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

मेरी विनम्र जिज्ञासाएँ :—

आप सम महान् मनीषी, चिन्तक और ऋषि-कल्प साधक अपने जीवन के चतुर्थ चरण में एक जिज्ञासु साधक को क्या देना चाहेंगे?

[ऋषि - कल्प वयोवृद्ध साधकों के दर्शन मात्र से 'दर्शक' को अपनी पात्रता के अनुसार प्रेरणा एवं उद्बोधन मिलता है। ऐसे साधक जो कुछ देना चाहते हैं, अपने 'दृष्टि - पात' से ही दे देते हैं।]

यह असन्दिग्ध रूप से निवेदन किया जा सकता है कि आप साधना के कँगूरे पर अवस्थित हैं। इस सौभाग्य-पूर्ण और गौरव-पूर्ण अवस्था को प्राप्त करने के लिए एक साधक के लिए क्या-क्या शर्तें स्वीकार्य होनी चाहिए।

[साधना के शिखर पर पहुँचने के लिए केवल दो शर्तें पूरी करनी होती हैं—१ श्रद्धा, २ विश्वास।]

संस्कार-जनित दोषों और वर्तमान कलुष-कल्मषों से युक्त होने के कारण जो अवरोध—विघ्नों का दण्ड भुगतान पड़ रहा है, वह तो पीड़ा - दायक होने पर भी उचित है, लेकिन एक साधक त्वरित गति से लक्ष्य की ओर ही प्रतिधावित रहे और पीड़ा के दंश तथा बाधा को कुचल सके—इसके लिए एक साधक को क्या करना चाहिए ?

[लक्ष्य की प्राप्ति के लिए गुरु-निर्दिष्ट मार्ग पर दृढ़ता-पूर्वक नियमित रूप से चलना ही एक-मात्र उपाय है, जिससे सभी बाधाएं दूर होकर शीघ्र अभीष्ट-सिद्धि मिलती है।]

क्या एक योगी 'तान्त्रिक' और एक तान्त्रिक 'योगी' एक ही साथ हो सकता है ?

[हां ! 'योग' और 'तन्त्र' सिद्धान्ततः एक हैं। अतः 'योगी' तान्त्रिक हो होता है और 'तान्त्रिक' योगी।]

आपकी अनुभूतियों में आपको छोड़कर भारत की भूमि पर वर्तमान समय में 'तन्त्र' के मान्य साधक कौन-कौन हैं ?

भारत में 'तन्त्र' के मान्य साधक असंख्य हैं, किन्तु उनका नाम—निर्देश करना उचित न होगा। जिस 'जिज्ञासु' को जिस 'साधक' के सत्सङ्ग से सन्तोष - लाभ हो, उसके लिए वही मान्य साधक है। आवश्यक नहीं कि जिसे मैं 'मान्य' मानूं, उसे अन्य भी वैसा मानें।]

जब 'तन्त्र' और 'योग' का लक्ष्य एक ही है, तो फिर 'तन्त्र-साधना' की खर्चीली विधियों को ग्रहण करना क्या 'युग-धर्म' के अनुकूल है ?

['तन्त्र' में जहां खर्चीली विधियां हैं, वहां बिना खर्चवाली पद्धतियां भी हैं। यही बात 'योग' में भी है। 'तन्त्र' की विशेषता यह है कि उसकी विधियां वर्तमान युग के अनुकूल हैं। 'योग' के अनुकूल वातावरण आज दुर्लभ है।]

'तन्त्र' के अधिकाधिक ज्ञान - प्राप्ति हेतु आप किन-किन मान्य ग्रन्थों के अवलोकन की आज्ञा प्रदान करेंगे ?

[मेरा अपना अनुभव यह है कि तन्त्र का ज्ञान 'गुरु' के सत्सङ्ग से ही होता है—ग्रन्थों के अवलोकन से नहीं।]

तन्त्र पर हिन्दी में आपके द्वारा रचित कोई पुस्तक है ?

[नहीं ! मेरी लिखी कोई पुस्तक नहीं है, किन्तु 'चण्डी' की फाइलों एवं कल्याण मन्दिर प्रकाशनों की पुस्तकों में आप बहुत कुछ पा सकते हैं ! यह सब प्रायः हिन्दी में ही है और प्रामाणिक तथा साधकों द्वारा अनुभूत है।]

विज्ञान-योग

मूल्य ५ रु०

चक्र की कुछ बातें

'चक्र' में साधक - संख्या और त्याज्य साधक : 'चक्रानुष्ठान' अकेले करना निषिद्ध है। इसी प्रकार बहुत से अर्थात् आठ से अधिक स-शक्ति साधकों को एकत्र कर 'चक्रार्चन' करना विहित नहीं है। इसमें आठ साधक और आठ शक्तियाँ—कुल सोलह व्यक्ति होने चाहिए, इनसे अधिक नहीं।

अर्चन के अधिकारी 'साधक' का लक्षण : पाखण्डी, मूर्ख और पापी के साथ अनुष्ठान करना निषिद्ध है। जो 'कौल' केवल मद्य-पान के प्रेमी हैं, स्त्री - लोलुप हैं, अपने कर्म से च्युत हैं, दूसरों के 'चक्र' में केवल मद्य पीने में ही रत रहते हैं, कुल-शास्त्रों की दुहाई दे-देकर संसार को ठगते रहते हैं और खाने-पीने के लोभी हैं, वे 'पाखण्डी' हैं। जिस व्यक्ति को 'कुल' का ज्ञान नहीं होता, वह 'मूर्ख' माना गया है। जो दूसरे के वचनों की अवहेलना करते हुए अपनी ही बुद्धि को श्रेष्ठ मानकर विवेचना करता है, उसे 'पापी' समझना चाहिए।

'समया तन्त्र' और 'कौलावली' के अनुसार अन्य 'त्याज्य कौल' निम्न प्रकार हैं—अन्धे, लूले, बहरे, कुबड़े, रोगी, घृणित, खराब या टूटे अङ्गवाले, शठ, अज्ञानी, पतित, बक - वादी, मर - मुखे, असन्तोषी, लालची, दरिद्र, दुःखी, कामुक, क्रोधी, निष्ठुर, क्रूर, झूठे, पर - निन्दक, पराधीन, नपुंसक आदि।

जो 'प्रेत-श्राद्ध' का अन्न खाते हैं और 'तीर्थ-स्थान' में दान-ग्रहण करते हैं एवं जो 'अति वृद्ध' होकर विभ्रान्त-चित्त हो गए हैं तथा जो 'आत्म - प्रशंसक' और धूर्त हैं, उनकी पूजा देवता मान कर नहीं करनी चाहिए। जप-पूजा-विहीन भ्रष्ट साधक की भी पूजा करना निषिद्ध है।

'चक्र' में बैठने की विधि : 'साधक' और 'शक्ति' के युगलों को अलग-अलग आसन प्रदान करने चाहिए क्योंकि एक ही आसन पर बैठकर अनुष्ठान करने से नर्क की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार एक से अधिक 'साधक' या 'शक्ति' को एक ही पात्र से पान करना निषिद्ध है। 'शक्तियों' और 'साधकों' को अलग स्थानों पर बिठाए अथवा उनकी इच्छानुसार 'युगल - रूप' में उनके बैठने का प्रबन्ध करे।

पहले अपनी दाईं ओर 'गुरु-शक्ति' को आसन प्रदान करे। फिर उनकी दाईं ओर 'गुरु-देव' को बिठाए। तदनन्तर उनकी आज्ञा से नियम-पूर्वक 'ज्येष्ठ-कनिष्ठ क्रम' से अन्य शक्तियों और साधकों को आसन प्रदान करे। गुरु-पुत्र, गुरु-भ्राता और गुरु-वंश-सम्भूत 'साधक' को गुरु-शक्ति की बाईं ओर, अपने दाएँ भाग में स्थान दे। इसके बाद 'ज्ञान-ज्येष्ठ' एवं 'तपो-ज्येष्ठ' साधकों को दाईं ओर बिठाए। 'अपनी शक्ति' को अपने बाएँ भाग में आसन प्रदान करे। फिर 'कनिष्ठ' साधकों को बाएँ भाग में बिठाए। 'माता', 'तपो - ज्येष्ठा' और 'सम्माननीया शक्ति' को दाईं ओर स्थान दे। अपनी 'शक्ति' को दाईं ओर न बिठाए और यदि बिठाए, तो उसे 'मातृ-स्वरूप' समझे। दाएँ भाग में बिठाने योग्य शक्तियों को बाँएँ भाग में बिठाने से 'गुरु-पत्नी-अतिक्रम' का दोष साधक को लगता है।

'चक्र' में पात्र देने का क्रम : परिवेशन - क्रम के सम्बन्ध में 'कौलिकार्चन-दीपिका-धृत समया-तन्त्र' में लिखा है—

गुरु-शक्तौ च गुरवे, स्व-शक्तौ च ततः परम् । ततो दक्षस्थ-ज्येष्ठेभ्यः, दत्वा कुल-द्रव्यं परम् ।
स्व-पात्रे च समादाय, ततः सामयिकैः सह । ध्यात्वा स्तुत्वा नमस्कृत्य, जुहुयात् कुण्डली-मुखे ।।

अर्थात् पहले 'गुरु-शक्ति' के पात्र को पूर्ण करे। तब क्रमशः गुरु-पात्र, स्व-शक्ति-पात्र, दाईं ओर बैठे ज्येष्ठ साधकों के पात्र और अन्त में बाईं ओर बैठे हुए साधकों के पात्र पूर्ण करे। तदनन्तर सबके बाद अपना पात्र ग्रहण करे। 'श्रीकुल' के साधक पहले गुरु की, तब गुरु-शक्ति की पूजा करते हैं। किन्तु विष्णु-क्रान्त में सभी 'काली-कुल' के अनुसार साधना करते हैं। साधकों में भी प्रचलित नियम यही है कि पहले 'गुरु-शक्ति' व 'गुरु-पात्र' को पूर्ण कर उक्त क्रम के अनुसार शक्तियों को पात्र देने के बाद 'ज्येष्ठ-कनिष्ठ-क्रम' से साधकों के पात्र पूर्ण करे। 'कौलावली' में लिखा है–

कुलामृत-रसं पूर्णं, गुरवे तदनन्तरम् । योषिद्भ्यस्त्ववशेषं तु, वीरेभ्यश्च ततः परम् ।।

पात्र-स्वीकार करते समय भी यही नियम माना जाता है कि शक्तियों-द्वारा पात्र ग्रहण कर चुकने के बाद साधक लोग अपने-अपने पात्र स्वीकार करते हैं। 'तन्त्रान्तर' में लिखा है––

गुरवे च निवेद्याथ, शक्त्यै दत्वा स्वयं हवेत् ।

'अपनी शक्ति' को या 'ज्येष्ठ' दीक्षिता शक्ति को पान कराकर स्वयं 'द्रव्य' का पान करे–

'श्यामा-रहस्य' में लिखा है कि–

स्व-शक्तिं वीर-शक्तिं वा, दीक्षितां गुरुमग्रणीम् । पाययित्वा पिवेद् द्रव्यं, इति शाक्तस्य निर्णयः ।।

किसी-किसी सम्प्रदाय में यह देखने को मिलता है कि गुरु के उपस्थित न रहने पर अपने ही पात्र को 'गुरु-पात्र' के स्थान में मानकर पहले उसे ही पूर्ण कर लेते हैं। इस सम्बन्ध में यह प्रमाण कहा जाता है––

यदि तत्राविद्यमानः, श्रीनाथः करुणा-मयः । तदा स्व-पात्रं देवेशि ! गुरु-पात्रं प्रकल्पयेत् ।।

किन्तु यह प्रमाण कहाँ का है, पता नहीं चलता। ऐसी दशा में इसे मानना ठीक नहीं जान पड़ता। फिर भी, यदि उक्त प्रमाण को स्वीकार भी कर लिया जाय, तो 'गुरु-पात्र'-स्थानीय अपने पात्र के उस द्रव्य को जल में विसर्जित करना पड़ेगा क्योंकि स्वयं ग्रहण करने से 'गुरु-द्रव्य' के अपहरण का दोष लगेगा। 'कौलिकार्चन-दीपिका' में लिखा भी है–

शक्त्यभावे कुलेशानि ! तत्-पात्रं तु जले क्षिपेत् । गुरोरभावे तत्-पात्रं, यथा तोये विनिक्षिपेत् ।।

'भाव-चूडामणि' में लिखा है–**साक्षात् यदि गुरुर्न स्यात्, तदा तोये विसर्जयेत् ।**

परन्तु यदि कोई साधक 'महा-पात्र' लाया हो, तो पहले उसे ही पूर्ण करना होगा।

साधकों में 'ज्येष्ठ-कनिष्ठ' - निरूपण : साधकों में कौन ज्येष्ठ है और कौन कनिष्ठ, इसका विचार करते समय यह ध्यान में रखना चाहिए कि 'श्रीचक्र' में वर्ण-भेद बिलकुल नहीं माना जाता। सभी ब्राह्मण के समान हैं। 'पूर्णाभिषिक्त' की अपेक्षा 'क्रम - दीक्षित' और 'क्रम - दीक्षित' की अपेक्षा 'साम्राज्य-दीक्षित' साधक श्रेष्ठ है। इसी प्रकार उच्च संस्कार - प्राप्त साधक अन्य साधकों की अपेक्षा 'ज्येष्ठ' माना जाता है। 'कौलिकार्चन-दीपिका' में लिखा है––

ज्ञान-वृद्धान् तपो-ज्येष्ठान्, स्व-दक्षिणे समर्चयेत् ।

इससे सिद्ध होता है कि समान संस्कार-प्राप्त साधकों में 'ज्ञान-वृद्ध' और 'तपो-वृद्ध' साधक ही 'ज्येष्ठ' कहे जाते हैं, परन्तु तपस्या - निरत समान साधकों में 'ज्येष्ठ' वही है, जो 'कुल - शास्त्र' का ज्ञानी है।

शास्त्र-ज्ञान-विहीनोऽज्ञो, जप-पूजा-रतो यदि। स तु कौलः कनिष्ठः स्याद्.....॥

सर्व-जातीय समान गुणवाले साधकों में पहले दीक्षा पाए हुए साधक 'ज्येष्ठ' माने जाते हैं। 'कुलार्णव' में लिखा है—

द्विजोऽपि दीक्षितः पश्चादन्त्यजः पूर्व-दीक्षितः। द्विजः कनिष्ठः स ज्येष्ठः, इति शास्त्रस्य निर्णयः॥

अर्थात् द्विज भी यदि अन्त्यज से बाद का दीक्षित है, तो वह 'कनिष्ठ' है, अन्त्यज ही 'ज्येष्ठ' माना जायगा।

साधकों का समुदाय होने पर 'गुरु-वंश-सम्भूत' साधक 'ज्येष्ठ' माना जाता है। उससे ज्येष्ठ 'गुरु-भ्राता' को और उससे भी ज्येष्ठ 'गुरु-पुत्र' को साधक मानते हैं और इन सबसे ज्येष्ठ 'गुरु-पत्नी' तथा स्वयं 'गुरु' को माना जाता है। 'ज्येष्ठ-कनिष्ठ' में से जिस भाव में जो साधक माना जायगा, उसी भाव को प्राप्त होकर उसकी 'शक्ति' भी उसके बाएँ भाग में आसन ग्रहण करेगी, परन्तु सभी साधकों के लिए यही उचित है कि वे अन्य साधकों की अपेक्षा अपने को सदा 'कनिष्ठ' मानें। 'कुलार्णव' में लिखा है–

अहं गुरुरहं ज्येष्ठस्त्वहं वेद्मीति गर्वितः। अहमेव गतिर्येषां, कौलिका न भवन्ति ते॥

अर्थात् 'मैं गुरु हूँ, मैं तो ज्येष्ठ हूँ'—ऐसा मानकर जो गर्व करते हैं, जिनकी गति केवल 'अहं' या 'अहङ्कार' तक हा है—वे 'कौलिक' नहीं होते।

भागवतधर्म का प्राचीन इतिहास

भागवत धर्म
(सनातन हिन्दू धर्म)
पर
विस्तृत रूप में प्रकाश डालनेवाली
शोध-पूर्ण उपयोगी पुस्तक
मूल बँगला-लेखक
ब्रह्मीभूत स्वामी विद्यारण्य जी
अनुवादक
श्री रमादत्त शुक्ल, एम० ए०

चण्डो पत्रिका के सदस्यों के लिए डाक-व्यय सहित मूल्य १०-००

मन्त्र-सार साधना

अग्नि का प्रभाव लौह में रुकने से जैसे लौह अङ्गार का गुण धारण कर लेता है, विद्युत्-प्रवाह के शलाका (वायर) में उतरने से शलाका विद्युन्मय शक्ति बन जाती है, वैसे ही 'मनो - शक्ति' के विचार में स्थिर होने से वह विचार - मय हो जाती है। यहाँ तक कि वह स्वतः विचार का ही रूप बन जाती है।

'मन्त्र' शब्द का अर्थ है विचार---इस प्रकार का विचार, जिसके जप या रटन द्वारा वह मन में स्थिर हो जाए। जिससे मन उन्नत होकर अपने उच्च ध्येय में स्थिर हो, उसको **'मन्त्र'** कहते हैं। मन द्वारा साधक अपने उपास्य देव की याद करता है।

कान फूकना **'मन्त्र'** नहीं है। विचार का ग्रहण करना ही **'मन्त्र'** है। अनुभवी लोग, जिन्होंने अध्ययन किया है, बताते हैं कि उत्तम मार्ग में प्रवृत्त होकर जिससे साधक अपनी आत्मा को उन्नत कर स्थिर हो सके, वह **'मन्त्र'** है। उत्तम मार्ग-दर्शन करानेवाला है **'गुरु'** और जिसको गुरु बताता है, वह है 'शिष्य'। साधक विचार करता हुआ, जप करता हुआ जिस लक्ष्य से उत्तम मार्ग पर स्थिर हो सके, उसका उपदेश करना ही है—**'मन्त्रोपदेश'**।

जगन्नियन्ता प्रभु अमुकामुक अनन्त भाव-मय महा-गुणों से परिपूर्ण हैं। 'मन' की एकाग्रता से निर्मित शून्य में उस लक्ष्य का विचार-भाव भरने की क्रिया को **'मन्त्रार्थ-ज्ञान'** कहते हैं।

यदि वे महा-गुण अमुक नाम-रूप, ध्यान एवं लक्ष्य में कल्पित हो जायँ, तो उस भावना को **'मन्त्र-दैवत'** कहते हैं।

विचार-प्रवाह तत्त्व से परे नहीं हो सकता। अन्तःशब्द - प्रवाह में किसी - न - किसी जाति के अमुकामुक सूक्ष्म तत्त्व अवश्य होते हैं। अतः अपने लक्ष्य-प्रमाण में अमुक जाति के तत्त्व के प्रधानत्व का ध्यान दैवत में रखने के प्रयास को **'मन्त्र-तत्त्व'** कहते हैं।

दैवत-तत्त्व-ध्याता के अभीष्ट भाव में मनो-निग्रह द्वारा उत्पन्न होते हुए, शून्य में विचरनेवाली दिव्य रश्मियों (कास्मिक रेज़) के दबाव से, **'मन्त्र-बीज'** (उपास्य देव को क्रिया का वर्णन) विस्फुटित होकर एक विचित्र प्रकार की शक्ति—'चिच्छक्ति' में परिणत हो जाता है। वह परमा 'चिच्छक्ति' अपनी (ध्याता या साधक की) आत्मा में क्षण मात्र में फैल जाती है और उसमें से ध्येय व्यक्ति की दैवत-तत्त्व-ध्यानार्थ-मय जो भाव-मूर्ति उत्पन्न होती है, उसको **'मन्त्र-चैतन्य'** कहते हैं।

उस 'महा-चिच्छक्ति' को लिङ्ग (चिह्न) आदि नाम से जानते हैं और उस दिव्य 'चिच्छक्ति' के ध्यान-मय आवरण के 'योनि', 'नारायण', 'कृष्ण', 'अव्यक्त' आदि अनेक नाम हैं। उस 'योनि' के दिव्य-भाव को मन में धारण करने की क्रिया को **'योनि-मुद्रा'** कहते हैं।

एकाग्र मनो - भूमिका के आधार पर इष्ट - दैवत, ध्यान तथा बारम्बार बीजोच्चार के सूक्ष्म दबाव से **'मन्त्र-बीज'** विस्फुटित होकर साधक को अमोघ **'अणिमादि सिद्धि-शक्ति'** का देनेवाला होता है। सतत ध्यान तथा शब्द-शक्ति (जो गति-संयोग से तैजस रूप में परिणत हो जाती है) के सङ्घर्षण से बीज (मन्त्र) विस्फुटित होकर ध्येय लक्ष्य की अद्भुत शक्ति साधक में उत्पन्न करता है। शब्द-बीजाणु के विस्फोट के इस विधान को **'मन्त्र-सिद्धि'** कहते हैं।

इस 'सिद्धि' से साधक को प्रकृति-जन्य अनेक सिद्धियाँ हस्त-गत हो जाती हैं, जिससे साधक इष्ट ध्येय में स्थिर होकर चारों पदार्थ (१ धर्म, २ अर्थ, ३ काम और ४ मोक्ष) का भोक्ता होता है। अष्टाङ्ग-योग-सिद्धि प्राप्त साधक को इस स्थिति पर भव - प्रत्यय (सांसारिक सुख - लालसा) के समान सिद्धयादि के प्रलोभन से अत्यन्त सावधानी-पूर्वक बचना चाहिए।

'ध्येय' अर्थात् **'मन्त्र-दैवत'**—मन्त्र का देवता—मन्त्र-चैतन्य। ध्येय दैवत के 'क्रिया - चक्र' का नाम **'यन्त्र'** है। मान्त्रिक इसे 'इष्ट-गृह' भी कहते हैं। मन्त्र-सिद्धि-प्राप्ति-विधान को **'तन्त्र'** कहते हैं।

'मन्त्र-सिद्धि' का भेद गुप्त रखा गया है तथा वह **गुरु-मुख** से ही प्राप्त होगा, ऐसा कहा है। बिना गुरु-कृपा (पुस्तक में पढ़कर जप करने से) किसी भी 'मन्त्र' की झाँकी—'सिद्धि' नहीं मिलती। इसका कारण यह है कि **'बीज' (मन्त्र) का विस्फोट-विधान,** जो प्रत्येक 'मन्त्र' की सिद्धि का मूल कारण है, किसी तन्त्रकार ने नहीं बताया है। इस विधान को बतानेवाले **गुरु** लोग भी 'काल - चक्र' के फेर से क्वचित् ही हैं। यही कारण है कि इस परम साधना-कला का इस विश्व में ह्रास-सा हो गया है।

जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि यह **'मन्त्र - सार - साधना'** विश्व में प्रचलित सम्पूर्ण साधनाओं में उत्तमोत्तम तथा अद्वितीय है, यदि किसी को सच्चा मार्ग-दर्शक मिल जाय।

मन्त्र-सिद्धि

[३]

'मन्त्र' का शाब्दिक अर्थ है—'मनन करनेवाले की रक्षा करना'। व्याकरणानुसार 'मन्त्र' शब्द की व्याख्या है—'मन्त्र्यते गुप्तं भाष्यते स मन्त्रः।' 'मन्त्रि गुप्त-भाषणे'—इस धातु में 'घत्र' प्रत्यय करने से 'मन्त्र' शब्द बनता है। 'मन्त्र' गुप्त रक्खा जाता है, और गुप्त ही जपा जाता है। इस कारण यह व्याख्या शाब्दी व्युत्पत्ति से भी यथार्थ है और भाव-प्रधान निरुक्ति से भी।

'मन्त्र' में 'मनन' करनेवाले की रक्षा का सामर्थ्य कब होता है? इसका उत्तर यह है कि मनुष्य में जैसे स्वतः सर्व-कर्म-क्षमता नहीं आती, अपितु उसके जात-कर्मादि संस्कारों से ही उसमें क्षमता बढ़ती है, वैसे ही मन्त्रों में भी 'दश संस्कार' करने से ही क्षमता (सामर्थ्य) बढ़ती है। 'संस्कार-युक्त' होने पर 'मन्त्र', 'पुरश्चर्या' से और भी कार्य-क्षम हो जाता है। 'मन्त्र' में चैतन्य डालने का विधान कई 'तन्त्र'-ग्रन्थों में बताया गया है। बिना चैतन्य के 'मन्त्र' काम का नहीं होता, ऐसा 'महा-निर्वाण-तन्त्र' में कहा है।

'महा-निर्वाण-तन्त्र' में महा-देव जी पार्वती से कहते हैं—हे परमेशानि! मन्त्र की अधिष्ठात्री देवता का ज्ञान कर लेना और उसे तदर्थ भावना के साथ, तादूप्य-भावना से भावित कर लेना, भक्तों को 'सिद्धि'-दायक होता है। यही 'मन्त्र' में चैतन्य डालना है। इसी क्रिया से 'मन्त्र' चैतन्य हो जाता है।

कुछ 'तन्त्र'-ग्रन्थों का कथन है कि जब तक 'कुण्डलिनी' जागृत नहीं होती, तब तक 'मन्त्र'-पूजनादि सफल नहीं होते। यह कथन वास्तव में 'कुण्डलिनी-जागरण' के माहात्म्य को बताते हैं। इसका यह अर्थ न समझना चाहिए कि जब तक 'कुण्डलिनी-जागरण' न हो, तब तक कोई 'मन्त्र-सिद्धि' होती ही नहीं। वस्तुतः केवल 'मन्त्र-जप' से भी 'कुण्डलिनी-जागरण' होता है। 'भूत-शुद्धि' के विधान में स्पष्ट निर्देश है कि—'हुमिति बीजेन कुण्डलिनीमुत्थाय जीवं ब्रह्मणि संयोज्य।' अर्थात् 'हुं' बीज-मन्त्र से कुण्डलिनी उत्थापन करे। 'कुण्डलिनी-जागरण' के कई प्रकार हैं, उनमें मन्त्र-योग मुख्य है।

ॐकार का अनुभूत जप

ॐकारं विन्दु-संयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव, ओंकाराय नमो नमः ॥

हमारे पूर्वजों ने मनुष्य की सुख-शान्ति और कल्याण के लिए सैकड़ों साधन और योजनाएँ तैयार करके शास्त्रों में सुरक्षित रूप से लिख दी हैं, जिनको मनुष्य ध्यान - पूर्वक सुनकर, पढ़कर और मननकर आध्यात्मिक सुख-शान्ति और कल्याण को प्राप्त कर सकता है। उनकी उपासना अर्थात् जप की विधि वेद, उपनिषद्, गीता, तन्त्र, पुराण और धर्म-शास्त्र में कही गई है। इन विधि-विधानों के साथ ही इनके माहात्म्य का भी विशेष कथन किया गया है, जिसको पाठक यत्र-तत्र यदा - कदा पढ़ते, सुनते और देखते ही रहते हैं।

'ॐ' जगत् की आध्यात्मिक और भौतिक शक्तियों का मौखिक वीज-तत्त्व है। अतः यह मनुष्य की आध्यात्मिक सुख-शान्ति और कल्याण की ओर उन्नति का कारण है। जिस समय 'ब्रह्म' का विकास हुआ था, उसके प्रथम विकास का नाम ही 'ॐ' कहा गया है। इस विकास का अपने-पन में लय हो जाना ही उन्नति की परा-काष्ठा है। 'ब्रह्म' के विकास का **'प्रणव'** (ॐ) के रूप में आकर, इन्द्रिय आदि के विकास में विकसित हो जाना ही भौतिक उन्नति की परा - काष्ठा है। 'प्राण' का 'पूर्ण-ब्रह्म' में लय भी 'ब्रह्माद्वैत' की स्थिति की सिद्धि है और **'प्रणव** (ॐ) का पूरे व्यवहार में विकसित हो जाना भी 'पूर्ण-ब्रह्माद्वैत' की सिद्धि है। इन दोनों की पूर्णता में जगदाभास का अभाव हो जाता है।

'आध्यात्मिक लय' में साधक के जगत् का–'ब्रह्म' में अभाव होता है। **'भौतिक ब्रह्म - विकास** में जगत्–'ब्रह्म-मय' होकर रहा करता है। अध्यात्म में 'ॐ **एवेदं सर्वं - वेद नास्ति किञ्चन्'** की सिद्धि होती है और भौतिक में **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** का दर्शन होने लगता है। यही **'ॐकारोपासना'** का सार तत्त्व है, जिसकी पूर्णता में साधक आध्यात्मिक और भौतिक उन्नति का रसास्वादन किया करता है।

'ॐकारोपासना' अथवा **'प्रणवोपासना'** की एक अनुभूत योजना यहाँ पाठकों के हितार्थ प्रस्तुत है। आशा है, पाठक इसको मनन-पूर्वक पढ़कर लाभ उठाएँगे। आध्यात्मिक मार्ग में हताश साधकों को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। इससे उनकी हताश वृत्ति का नाश होकर उनको आशा से अधिक सफलता अवश्य मिलेगी।

ओंकारोपासना–भ्रम-निवारण

शास्त्रों में **'ॐकारोपासना'** के प्रकरण में लिखा है कि जो साधक बारह मास तक साढ़े बारह हजार 'ॐ' का जप करता है, उसको बारह महीने में 'आत्म-साक्षात्कार' हो जाता है। कोई-कोई कहते हैं कि बारह महीने में नहीं, बारह साल में 'आत्म-साक्षात्कार' होता है। कोई अन्य भी कई कल्पनाएँ किया करते हैं।

जैसे 'काल' के सम्बन्ध में मत-भेद है, वैसे ही 'जप' के विषय में भी नाना मत-भेद हैं। कितनों ही का कहना है कि कलि-युग के प्रभाव से **'मन्त्र-शक्ति'** और **'जापक-शक्ति'** निर्बल पड़ गई है। इनको

सबल बनाने के लिए तिगुना जप करना चाहिए। कोई कहता है कि कलि-युग में 'मन्त्र' और 'जप' दोनों अशुद्ध-अपवित्र हो जाने से फल-रहित हो गए हैं, अतः उनसे साधक को फल नहीं मिलता। उपर्युक्त सभी बातें काल्पनिक, अन्ध-विश्वास और हताश - वृत्ति की गढ़ी हुई हैं। 'जप - परम्परा' के लोप हो जाने से ही इस प्रकार की भ्रान्तियाँ निर्मित हुई हैं और 'जप की परम्परा' मिल जाने से ये सभी मिट जाएँगी।

भ्रम-रहित 'जप' का पूर्ण अनुष्ठान

शास्त्रोक्त 'विधि' के अनुसार **'प्रणव'** (ॐ)-जप का एक अनुष्ठान साढ़े बारह हजार दैनिक के अनुसार सवा कोटि जप का पूर्ण प्रयोग दो वर्ष नौ मास में पूर्ण होता है। इस जप की साढ़े बारह हजार दैनिक संख्या को पूर्ण करने के लिए तीन घण्टे बीस मिनट लगते हैं। इसमें से तीन हजार एक सौ पचीस जप को 'जिह्वा' के दबाव से करना होता है, जिसमें पचास मिनट का समय लगता है। दूसरा भाग तीन हजार एक सौ पचीस जप को 'कण्ठ' के दबाव से करना होता है, जिसमें भी उतना ही समय लगना चाहिए। तीसरा भाग इसी संख्या का 'हृदय' के दबाव से और चौथा भाग 'नाभि' - गत प्राण-मात्र की स्फूर्ति से हुआ करता है। यही 'जप' की अनुभूत योजना है।

जप की विस्तृत अनुभूत योजना

साढ़े बारह हजार जप की जो अनुभूत योजना आगे बताई जा रही है, उसे लिखित विधि के अनुसार पूर्ण करने से नियत समय पर 'आत्म-साक्षात्कार' अवश्य हो जाएगा।

'वैखरी' का जप एवं उसकी विधि

'जप' में लगने के पहले साढ़े बारह हजार को चार भागों में बाँट लेना चाहिए। इन चार भागों में प्रत्येक तीन हजार एक सौ पचीस का है। पहले भाग को 'वैखरी' - वाणी से जपना चाहिए। 'वैखरी' का अर्थ बिखर जानेवाली वाणी है। जिस समय वक्ता 'वैखरी' से बोलता है, उस समय उसका शब्द मुख से बाहर आकर बिखर जाता है अर्थात् इसकी गति बहिर्मुख हो जाती है, जिसके कारण वाणी का अन्तः - प्रवाह बिलकुल बन्द हो जाता है। वह अन्दर से निकल कर बाहर ही फिकने लगती है। 'वैखरी' के जप का अर्थ है वाणी के बाहरी प्रवाह को अन्तर्प्रवाह में परिवर्तित कर देना।

'वैखरी' के जप के समय इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि उच्चारित 'ॐ'-शब्द के प्रवाह-कम्पन मुख-द्वार से बाहर को तो नहीं बह रहे हैं। उच्चारित **'ओम् - ध्वनि'** बाहर के प्रवाह को छोड़कर शब्द-तन्तुओं द्वारा कण्ठ-छिद्र में जाकर 'विशुद्ध-चक्र' के वाक् - कम्पनों को सञ्चालित करके प्रवाहित होने लगेगी। तभी साधक को अपने होठों को बिलकुल बन्द करके 'वैखरी' - गत शब्द-तन्तुओं से **'ओम्'** की ध्वनि को घण्टा-नाद-वत् बड़े बल-पूर्वक उच्चारित करना चाहिए, जिससे यह शब्द-समूह ओठों से टकराकर मध्यमा-गत वाक्-तन्तुओं को झङ्कारित करने लगे। इन वाक्-तन्तुओं के ध्वनित होते ही आपका 'वैखरी-जप' बिलकुल पूर्णता को प्राप्त हो जाएगा अर्थात् आपकी 'वैखरी' 'मध्यमा' में लय हो जायगी। इसे पूर्ण करने में आपको पचास मिनट लगेंगे। इस 'जप' की स्थिति में मन की चञ्चलता का बिलकुल ह्रास हो जाता है। जो मन के रोकने में हताश हो गए हों, वे अवश्य इस अनुभूत विधि से लाभ उठाएँ।

मध्यमा की जप-विधि

यद्यपि सङ्घात-विज्ञान के अनुसार वस्तु पर पड़े हुए आघात प्रत्याघात के साथ ही आघातित वस्तु के कण-कण में पहुँच जाते हैं, तथापि कम्पनों का आरम्भ केन्द्रीय आघात-स्थान ही होता है। इस नियम के अनुसार बोली का आरम्भ 'परा' से और 'जप' का आरम्भ 'वैखरी' से माना जाता है। 'परा' के कम्पनों से 'वैखरी' का कार्य और 'वैखरी' के कम्पनों से 'परा' का कार्य प्रारम्भ हुआ करता है। बिखरनेवाली जगह का नाम 'वैखरी' और लयवाली जगह का नाम 'परा' कहा है। इसी विषय के अनुसार बहिर्गत कम्पनों का नाम 'वैखरी' बोली और लय-गत कम्पनों का नाम 'परा - जप' कहा जाता है। बोली की पूर्ति के लिए 'परा' के कम्पनों को 'वैखरी' में लाना पड़ता है और 'जप' की पूर्ति के लिए 'वैखरी' के कम्पनों को 'परा' में लय करना पड़ता है। जब तक 'वैखरी' के कम्पन बिखरना बन्द न करके मध्यमा में लय होना प्रारम्भ नहीं करते, तब तक जप नहीं—जपाभास ही हुआ करता है। जप की सिद्धि शुद्ध 'जप' से होती है, जपाभास से नहीं। शुद्ध जप के प्रारम्भ होते ही 'वैखरी' के कम्पन 'मध्यमा' में लय होने लगते हैं। जैसे-जैसे 'वैखरी' के कथन 'मध्यमा' में लय होने लगेंगे, वैसे-वैसे ही साधक के लिए वैखरी-जन्य जप अरोचक, निस्सार, नीरस होकर साधक मध्यमा-जन्य जप की मधुरता का रसास्वादन करने लगेगा और थोड़े ही समय में साधक की 'वैखरी' के कम्पन 'मध्यमा' के स्वर-तन्तु की सुमधुर ध्वनि से 'ओम्' के रूप में गुञ्जित होने लगेंगे।

जिस समय वैखरी के कम्पनों से शून्य होकर कम्पन मध्यमा में लय होकर 'ओम्' के रूप में गुञ्जायमान होने लगें, उस समय साधक को बड़ी सावधानी-पूवक जालन्धर-बन्ध लगा कर एकाग्रता से जप में मनोलय-पूर्वक लग जाना चाहिए। इस विधि के पूर्ण होते ही मध्यमा-जन्य ध्वनि कण्ठ से टकरा कर हृत्-कमल की ओर प्रवाहित हो जायगी। स्वर-तन्तुओं का 'अनहद' की ओर प्रवाहित होने लगना ही 'मध्यमा' के जप की पूर्ति है।

पश्यन्ती की जप-विधि

यदि आपकी 'वैखरी' के कम्पनों का 'मध्यमा' में पूर्णतया लय हो गया है, तो आप 'मध्यमा' के जप के पूर्णाधिकारी हो गए हैं और अधिकार की पूर्ण प्राप्ति में आपका जप बहुत सुगमता से होने लगेगा। विज्ञान के सिद्धान्त में वाक्-शक्ति के स्वर-तन्तु 'मध्यमा' का विकास पाते हैं। जिस व्यक्ति के 'मध्यमा'-गत वाक्-शक्ति के संगृहीत स्वर-तन्तु बेकार होते हैं, वही मूक-बधिर हुआ करते हैं। वाक्-शक्ति के संगृहीत इन स्वर-तन्तुओं का 'वैखरी' में—बोली और हृदय में—प्रवाहित होने लगना 'अनहद' या नाद-ध्वनि कहा जाता है।

अतः प्रत्येक साधक का पहला कर्तव्य यही है कि वह 'मध्यमा' में संगृहीत स्वर - तन्तुओं को मनो-विज्ञान-पूर्वक जालन्धर-बन्ध के दबाव-द्वारा 'अनहद' के रूप में परिणत कर जप करने का अभ्यास करे। 'वैखरी' और 'मध्यमा' के जप की पूर्णता से नादात्मक जप बड़ी सुगमता से होने लगेगा।

जैसे ध्वनि से अक्षर और अक्षर से बोली बनती है, वैसे ही बोली का अक्षर में और अक्षर का ध्वनि में लय हुआ करता है। 'बोली' से 'अक्षर' अधिक महत्त्व का है और 'अक्षर से 'ध्वनि' अधिक महत्त्व की है। जब आपकी 'बोली' अक्षरात्मक होकर पूर्ण-तया 'ध्वनि' के रूप में परिवर्तित हो जायगी,

तब आपका 'पश्यन्ती'-जप भी पूर्णता को प्राप्त होगा । इसके लिए हृत्-तन्त्री की प्रथमा को एक प्रकार के हृत् - बन्ध द्वारा बन्द करना होगा । यद्यपि यह बड़ी बारीक बात है, तथापि कुशल और सावधान मनोजयी साधक के लिए बहुत सरल है ।

इस स्थिति में साधक इतना अन्तर्लय हो जाता है कि उसको हृत् - बन्ध एक सामान्य - सी बात दिखने लगती है । वैसे भी जालन्धर-बन्ध के पूर्णतया लग जाने पर हृत्-बन्ध बिलकुल सुगम हो जाता है । इस बन्ध के पूर्ण होने पर 'पश्यन्ती' का जप भी पूर्ण हो जाता है । इस जप के पूर्ण हो जाने पर वाणी का प्रवाह 'मध्यमा' की ओर से बिलकुल बन्द होकर 'परा' की ओर प्रवाहित होने लगता है, जो किसी भाग्यवान् साधक को ही सुलभ होता है ।

'परा' का जप

'पश्यन्ती' के जप की पूर्णता से ही साधक को 'परा' के जप का अधिकार प्राप्त होता है । जैसे 'वैखरी' के जप का अर्थ बोली को अक्षर में लय करना है, 'मध्यमा' के जप का अर्थ अक्षरों को कम्पनों में लय करना और 'पश्यन्ती' का अर्थ कम्पनों को उनकी मूल-शक्ति में लय करना है, वैसे ही 'परा' का जप वाक्-शक्ति को ब्रह्म-निर्देश-तत्त्व में लय करना है ।

मूल-शक्ति में दो तत्त्व रहते हैं—१ वाक्-तत्त्व, २ ब्रह्म-निर्देश-तत्त्व । वाक्-तत्त्व को ब्रह्म-निर्देश-तत्त्व में लय कर देना ही पश्यन्ती के जप की पूर्णता होती है । इसे यों भी कह सकते हैं कि ब्रह्म-निर्देश-तत्त्व को वाक्-तत्त्व से रहित कर देना ही पश्यन्ती के जप की परा-काष्ठा या परा - गति है । इस जप के सिद्ध हो जाने पर साधक की वाक् - शक्ति वाक् - तत्त्व को छोड़ कर परमात्मा का निर्देश मात्र रह जाती है ।

'सकार' प्राण-जीव से 'हकार' शिव होना ही ओंकार के जप की प्रति-ध्वनि है । प्राण से प्रणय होना ही मनुष्य के मनुष्यत्व का लक्षण है । ये वाक्-चतुष्टय की प्रणव की बाह्य और आन्तर ध्वनि हैं । इसे प्रति-ध्वनि का रूप देना ही जप का तात्त्विक स्वरूप है । विज्ञान के सिद्धान्त में ध्वनीय प्रति-ध्वनीय होकर अपने मूल-तत्त्व में लय पाती है । ध्वनि को प्रति-ध्वनि (के कारण) में लय कर देना ही जप का दिव्य तत्त्व है । इसे योग में 'उलटी गति' कहते हैं । कीजिए और प्रकाश-मय होइए । यह अकार, उकार, मकार और नाद का सार कहा गया है । इसके आगे नाद, बिन्दु, कला और अतीत का बोध आपको स्वयं ही हो जाएगा और आपके मुखारविन्द से स्वतः ही निकल पड़ेगा—**'स जीवः केवल शिवः ।'**

उक्त प्रयोग की सात जप-श्रेणियाँ हैं । इनमें से प्रथम को **'वाणी - जप'**, दूसरे को **'स्वर - जप'**, तीसरे को **'स्वप्न-जप'**, चौथे को **'प्राण-जप'** या **'ब्रह्म-निर्देश-जप'**, पाँचवें को **'प्रणव-जप'**, छठे को **'प्रकाशात्मक निर्देश-जप'** और सातवें को **'अमात्र-ब्रह्म 'ॐ' का जप'** कहते हैं ।

मन्त्र या देवता-रहस्य

'मन्त्र' का स्वरूप क्या है ? मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति में उसका क्या स्थान है ? **'मन्त्र-साधना'** का वास्तविक अभिप्राय क्या है ?—ये सारे प्रश्न साधारणतः तत्त्व - जिज्ञासु साधक के हृदय में उठा करते हैं। इनके साथ दूसरे आनुषङ्गिक प्रश्न नहीं उठते, ऐसी बात नहीं है। इस विषय का यथार्थ समाधान जानने के लिए **'मन्त्र-रहस्य'** से अवगत होना आवश्यक है।

सृष्टि के आदि में परमेश्वर अपनी बहिरङ्गी शक्ति 'महा - माया' के प्रति या 'विन्दु' के ऊपर दृष्टि डालते हैं। यह दृष्टि-क्षेप ही चैतन्य-शक्ति का सञ्चार है। दृष्टि-पात के पूर्व-क्षण तक 'महा-माया' सुप्त अवस्था में विद्यमान रहती है। विशुद्ध जड़-शक्ति का नाम 'महा-माया' है। वे सारे अणु-रूपी जीव, जो पूर्व - कल्प की साधना, वैराग्य, संन्यास, विवेक, ज्ञान आदि के फल - स्वरूप अशुद्ध जड़-शक्ति-रूपी 'माया' का अतिक्रमण करने में तो समर्थ हो चुके हैं, परन्तु परमेश्वर के निज स्वरूप में उपनीत नहीं हो पाए हैं, 'महा-माया' के गर्भ में विद्यमान रहते हैं।

उक्त सारे जीवों की अवस्था सुषुप्ति-वत् होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं। 'माया' से मुक्त होने के फल - स्वरूप इन जीवों के अशुद्ध मायिक देह अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण देहें जिस प्रकार नहीं रहतीं, उसी प्रकार कोई उच्च-तर विशुद्ध देह भी नहीं रहती। वे 'माया' के परे—'महा-माया' के गर्भ में लीन रहते हैं।

'माया' के गर्भ में रहना जिस प्रकार का होता है, बहुत कुछ उसी प्रकार का 'महा - माया' के गर्भ में रहना भी होता है। दोनों दशाओं के बीच में केवल आवरण - गत पार्थक्य होता है। अप्राकृत दिव्य अवस्था या भागवत अवस्था अत्यन्त दुर्लभ है। चैतन्य के विकास के बिना उसका आविर्भाव नहीं होता। वही 'पशुत्व' के परे की अवस्था है। 'माया' की निद्रा और 'महा-माया' की निद्रा—दोनों ही दशाओं में 'पशु-भाव' विद्यमान रहता है। जब तक 'पशुत्व' है, तब तक वास्तविक जागृति कहाँ ?

'महा-माया' की विश्रान्ति के समय उनके गर्भ - स्थित जीव सुषुप्त होते हैं। उनका जीवत्व 'पशुत्व'-मूलक होता है। जब तक चैतन्य का उन्मेष नहीं होता, तब तक 'पशुत्व' तिरोहित नहीं होता। उन विदेह-कैवल्य-प्राप्त जीवों की भगवत्ता-प्राप्ति के मार्ग में दो अन्तराय हैं—१ आत्मा का स्वरूप-गत अणुत्व या 'पशुत्व', जो अभिन्न-ज्ञान-क्रियात्मक चैतन्य के स्वरूप का आच्छादन है और २ 'महा-माया' का सम्बन्ध। इन दोनों आवरणों के निवृत्त होने पर शुद्ध भगवत्ता की अभिव्यक्ति का मार्ग खुल जाता है।

जब सृष्टि के आदि में 'महा-माया' में चैतन्य-शक्ति का आधान होता है, तब इस शक्ति की क्रिया के कारण 'महा-माया' क्षुब्ध होकर कार्योन्मुख होती हैं और उनमें सुप्त-बत् निहित अणु-रूपी सारे जीव भी जाग उठते हैं। निद्रा-काल में ये सारे जीव विदेह - अवस्था में 'महा - माया' में लीन रहते हैं, परन्तु 'महा-माया' के क्षुब्ध होते ही इनकी निद्रा भङ्ग हो जाती है।

देह - सम्बन्ध के बिना कोई अणु कभी जाग नहीं सकता। अतएव चैतन्य - शक्ति की क्रिया के फल-स्वरूप क्षुब्ध 'महा-माया' से उक्त समस्त जीवाणुओं के प्रयोजन के अनुरूप देह आदि की उत्पत्ति होती है और उनका विकास भी हो जाता है। इसलिए जब वे जाग उठते हैं, तब उनमें कोई भी विदेह नहीं रहता। वे 'महा-माया' से उत्पन्न शरीर लेकर ही प्रकट होते हैं।

'महा-माया' में चैतन्य-शक्ति का आवेश तथा उक्त समस्त जीवाणुओं में चैतन्य - शक्ति का सञ्चार एक ही बात है क्योंकि सारे जीवाणु सुप्त अवस्था में 'महा - माया' के साथ अभिन्न होकर ही रहते हैं।

'महा-माया' के गर्भ में असंख्य जीवाणु विद्यमान रहते हैं। महा-प्रलय की दशा में ये सभी सम-भाव से लीन रहते हैं, किन्तु चैतन्य-शक्ति के सम्पात के समय ये सभी समान रूप से प्रबुद्ध नहीं होते और न हो ही सकते हैं। किसी-किसी अणु की ही जागृति होती है, सबकी नहीं।

यद्यपि सभी जीवाणु मल-विशिष्ट होते हैं और चैतन्य या भगवदनुग्रह की आवश्यकता सबको सम-भाव से होती है, तथापि मल की परिपक्वता सबकी समान नहीं होती। जिसका मल जितना अधिक परिपक्व होता है, वह उतने ही अधिक परिमाण में चैतन्य-शक्ति की ओर उन्मुख होता है।

'मल' ने अनादि-काल से आत्मा के साथ युक्त होकर आत्मा को 'जीवाणु'-रूप में परिणत कर रक्खा है। 'अणुत्व' ही 'पशुत्व' है। यह आत्मा का स्वभाव - सिद्ध धर्म नहीं है। आत्मा का स्वाभाविक धर्म तो 'शिवत्व' या पूर्ण चैतन्य है। यह ज्ञान - शक्ति और क्रिया - शक्ति का अभिन्न और अपरिच्छिन्न स्वरूप है। 'मल' अनादि होने पर भी आगन्तुक है। इसके द्वारा जब चैतन्य - स्वरूप आच्छन्न होता है, तब शिव-रूपी आत्मा 'जीव' या पशु-रूप में परिणत हो जाता है।

उक्त 'मल' काल-शक्ति के द्वारा निरन्तर परिपक्व होता रहता है। सृष्टि-काल में परिपाक के अन्य उपाय न हों, ऐसी बात नहीं है, परन्तु प्रलय-काल में वे उपाय काम नहीं करते। परिपक्वता की एक ऐसी मात्रा है, जिसके प्राप्त होने पर ये सारे जीवाणु अपने-आप चैतन्य - शक्ति की ओर उन्मुख हो जाते हैं।

आकाशस्थ सूर्य की किरणें समुद्र के ऊपर और कुछ तल-प्रदेश तक पड़ती हैं, परन्तु जो 'जीव' इन किरणों की सीमा-रेखा के अन्तर्गत उपस्थित नहीं हो सकते, वे आपाततः इन किरणों की क्रिया से मुक्त रहते हैं। दूसरे पक्ष में जिन्हें इन किरणों का स्पर्श प्राप्त हो जाता है, वे इनके प्रभाव से जाग उठते हैं और अपने मल-परिपाक की मात्रा के अनुसार विशुद्ध देह पाकर शुद्ध जगत् में सञ्चरण करते हैं। अतएव अपेक्षाकृत अपरिपक्व मल से जीवों की सुषुप्ति दूर नहीं होती। साधारणतः कल्पान्तर में उसके दूर होने की सम्भावना रहती है।

यहाँ हम परमेश्वर की स्वातन्त्र्य-शक्ति के खेल की ओर दृष्टिपात नहीं कर रहे हैं। स्वातन्त्र्य-शक्ति की दृष्टि से विचार करने पर मल की परिपक्वता के ऊपर चैतन्य-शक्ति का सञ्चार निर्भर करता है, यह बात सर्वत्र समान रूप से सत्य मान लेने से काम नहीं चलता। यहाँ तो साधारण नीति का ही अनुसरण किया गया है।

जिन जीवों के विषय में आलोक-स्पर्श होने की बात कही गई है, वे सभी पुरातन जीव हैं। वे संसार में पतित हुए थे तथा प्रत्यावर्तन की दिशा में 'माया'-पर्यन्त तत्त्व-भेद करके देह से वियुक्त होकर 'महा-माया' के भीतर केवली-रूप में विलीन होकर रहते हैं। 'माया'-राज्य का भेदन हो जाने पर भी इनकी वासना-मुक्ति पूर्ण रूप से नहीं हुई क्योंकि 'मायातीत' वासना इस समय भी वर्तमान है।

'मायिक' वासना को क्षीण करने के लिए 'मायिक' देह ग्रहण करके 'मायिक' जगत् में कर्म करना पड़ता है। देह ग्रहण किए बिना वासना का क्षय नहीं होता। 'मायातीत' वासना को क्षीण करने के लिए भी तदनुरूप देह ग्रहण करके तादृश कर्म-सम्पादन करना आवश्यक है।

'मायिक' वासना मलिन होती है, परन्तु 'मायातीत' वासना विशुद्ध होती है। कर्तृत्व-अभिमान के वश 'मायिक' जगत् में कर्म होता है और भोक्तृत्व-अभिमान के वश 'मायिक' जगत् में भोग होता है। कर्मानुष्ठान और कर्म-फल-भोग को ही मिलित रूप में संसार कहते हैं, परन्तु 'मायातीत' वासना के स्थल में न तो कर्म के मूल में अहङ्कार रहता है, न भोग के मूल में। इसीलिए उसे प्रकृत संसार नहीं कहा जा सकता। यदि उसे संसार कहना हो, तो 'शुद्ध संसार' कह सकते हैं।

'मायातीत' कर्म ही अधिकार है और 'मायातीत' भोग ही यथार्थ भोग या सम्भोग है। अधिकार और भोग की अतीतावस्था ही 'लय' है।

यहाँ प्रश्न होता है कि 'मायातीत' वासना विदेह - जीवाणु में किस प्रकार चरितार्थ हो सकती है? इसका उत्तर यह है कि 'मायातीत' वासना 'मायातीत' देह के द्वारा ही तृप्ति-लाभ करती है। 'मायिक' वासना की तृप्ति तो 'मायिक' उपादान से होती है, परन्तु 'मायातीत' वासना की तृप्ति 'मायिक' उपादान से कैसे हो? इसके लिए जो 'मायातीत' उपादान आवश्यक होता है, उसका नाम है 'महा-माया'।

जब चैतन्य-शक्ति 'महा-माया' को स्पर्श करती है, तब पूर्वोक्त परिपक्व मल से सारे जीव जाग उठते हैं और क्षुब्ध 'महा-माया' से रचित देहों में अधिष्ठान करके अपने-अपने कार्य - साधन में प्रवृत्त हो जाते हैं।

'महा-माया' का ही दूसरा नाम है 'कुण्डलिनी' शक्ति। पूर्वोक्त परिपक्व - मलवाले जीवों के देहादि कुण्डलिनी-शक्ति द्वारा रचित होते हैं। तब ये जीव 'जीव' नहीं कहलाते। जीव होकर भी वे ईश्वरीय शक्ति से सम्पन्न होते हैं।

परमेश्वर की करुणा-दृष्टि-रूपी चैतन्य-शक्ति के सञ्चार की बात पहले कही जा चुकी है। यह वस्तुतः 'चित्-शक्ति' का ही उन्मेष है, जो क्रिया-शक्ति के रूप में होता है।

'चित्-शक्ति' की दो अवस्थाएँ हैं—१ सक्रिय और २ निष्क्रिय। वस्तुतः इन दो अवस्थाओं के न होने पर भी कर्म-गत भेद को उपपत्ति के लिए कृत्रिम-भाव से दो कही गई हैं। निष्क्रिय अवस्था में क्रिया के अभाव के कारण शक्ति का सञ्चार नहीं होता। अतएव यह शक्ति-सञ्चार वस्तुतः 'चित्-शक्ति'-मयी क्रिया-शक्ति का व्यापार है। इसी का नामान्तर है 'दीक्षा'।

परमेश्वर स्वयं ही 'क्रिया-शक्ति' के प्रवर्तक-रूप में चैतन्य-दाता गुरु हैं। पूर्वोक्त परिपक्व मल-वाले जीवाणु सृष्टि के आदि में इस दीक्षा को प्राप्त कर 'महा - माया' से उद्भूत विशुद्ध देह लाभ कर परमेश्वर के आदि-शिष्य-रूप में शुद्ध जगत् या 'महा-मायिक' जगत् में स्थिति-लाभ करते हैं।

हम जिस 'मायिक' जगत् से परिचित हैं, उसकी सृष्टि, स्थिति आदि समस्त व्यापारों का चरम भार इन्हीं आदि-शिष्यों के ऊपर न्यस्त होता है। ये जीव होते हुए भी ईश्वर-कल्प हैं, परन्तु नित्य-सिद्ध परमेश्वर से ये न्यून हैं क्योंकि इनमें 'शुद्ध वासना' है और परमेश्वर में 'वासना' नहीं है। समष्टि-रूप से समस्त जगत् की 'कल्याण-कामना' ही इनकी 'शुद्ध वासना' का स्वरूप है।

ऐसा प्रतीत हो सकता है कि 'विशुद्ध-वासना' से परे जाने पर विशुद्ध भगवद् - भाव की प्राप्ति हो सकती है, परन्तु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। वह विशुद्ध कैवल्य-अवस्था है, भगवदवस्था नहीं।

सृष्टि के आदि में परमेश्वर की चैतन्य-मयी शक्ति को प्राप्त होकर जो जीव विशुद्ध देह लाभ करते हैं, वे सब सम-भावापन्न नहीं होते। उनके बीच भी अवान्तर-भेद होता है। अवश्य ही एक प्रकार से सबको एक स्तर के जीव कहा जा सकता है क्योंकि उन सबके भीतर चित् - शक्ति का उन्मेष रहता है। सभी शुद्ध-विद्या प्राप्त कर शुद्ध राज्य के अधिवासी हो चुके हैं तथा न्यूनाधिक रूप में होने पर भी सभी के भीतर क्रिया-शक्ति जाग्रत हो गई है, परन्तु क्रिया-शक्ति के विकास में तार-तम्य होने के कारण इनमें भी तार-तम्य दीख पड़ता है।

शुद्ध जगत् के चेतन-वर्ग में जो वैषम्य दीख पड़ता है, उसका मूल हेतु है क्रिया-शक्ति की अभिव्यक्ति का तार-तम्य। यह तार-तम्य क्यों होता है, इसकी खोज करने पर जाना जा सकता है कि सारे जीवाणुओं में मल समान रूप से परिपक्व नहीं होता। अतएव भगवत्-शक्ति अर्थात् परमेश्वर की क्रिया-शक्ति को सभी समान रूप से धारण नहीं कर पाते। मल के उस परिमाण तक पक्व हुए बिना वह चित्-शक्ति का स्पर्श सहन नहीं कर सकता।

शुद्ध राज्य में परिपक्वता सभी को प्राप्त होती है, यह सत्य है, परन्तु इस परिपक्वता में तार-तम्य होता है और उसी के अनुसार, जहाँ परिपक्वता अधिक होती है, वहाँ क्रिया - शक्ति का आवेश अधिक मात्रा में होता है। मल के परिपक्व न होने पर क्रिया - शक्ति धारण नहीं की जा सकती। इसी अपक्व मल की अवस्था में क्रिया-शक्ति का सञ्चार बिल्कुल ही नहीं होता। अतएव मल-पाक न होने पर श्रीगुरु कभी जीव पर अनुग्रह नहीं करते।

समस्त पक्व मल वाले जीवाणुओं में, जिनका मल सर्वापेक्षा अधिक परिपक्व होता है, क्रिया-शक्ति का आवेश होने पर उनमें कर्तृ-भाव का उदय होता है। यह कर्तृत्व शुद्ध होता है। इसमें अहङ्कार का सम्बन्ध नहीं होता। इनके नीचे बहु-संख्यक पक्व मल वाले जीवाणु उपर्युक्त प्रणाली से भगवत्-शक्ति को प्राप्त होते हैं और चैतन्य-लाभ करते हैं। इनकी क्रिया-शक्ति की अभिव्यक्ति अपेक्षा - कृत न्यून होती है, अतएव इनमें कर्तृ-भाव का उन्मेष न होकर करण-भाव का उन्मेष होता है।

जिन जीवाणुओं में कर्तृ-भाव का उन्मेष होता है, वे एक प्रकार से सजातीय होते हैं, तथापि उनमें भी परस्पर न्यूनाधिक्य रहता है। उसी प्रकार करण-शक्ति-मय समष्टि में भी परस्पर न्यूनाधिक्य रहता है। जो कर्तृ-भावापन्न हैं, वे ईश्वर-तत्त्व का आश्रय लेकर रहते हैं तथा जो करण - भावापन्न हैं, उनका अवलम्बन शुद्ध विद्या-तत्त्व है।

शुद्ध-विद्या मायातीता ज्ञान-स्वरूपा है। जो जीव ईश्वर-तत्त्व में अवस्थान करते हैं, वे ईश्वर अथवा 'गुरु' हैं और जो विद्या-तत्त्व के आश्रय में रहते हैं, वे 'मन्त्र' अथवा 'देवता' हैं। ये समस्त मन्त्र ईश्वर या 'गुरु' के अधीन हैं। ये 'गुरु' के द्वारा प्रयुक्त होकर 'मायिक' जीवों के उद्धार का कार्य करते रहते हैं। ये स्वतः प्रेरित होकर जीवोद्धार में लगे नहीं रह सकते क्योंकि ये 'करण' हैं—'कर्ता' नहीं।

'गुरु' और 'देवता' दोनों ही शुद्ध-देह-सम्पन्न होते हैं। परमेश्वर के अनुग्रह की प्राप्ति से दोनों में निज स्वरूप-ज्ञान जाग चुका है। अपने 'शिवत्व'-बोध-रूपी ज्ञान का उदय दोनों क्षेत्रों में ही सम-भाव से हो चुका है, परन्तु 'गुरु' कर्तृ-भाव से तथा 'देवता' करण-भाव से कार्य करते हैं।

यद्यपि परमेश्वर की अनुग्रह-शक्ति 'गुरु' और 'देवता' दोनों में पड़ती है, तथापि व्यक्ति - गत विकास की दृष्टि से इनमें तार-तम्य रहता है। जो जीवाणु तत्त्व-भेद के क्रम से ऊर्ध्व-गति के फल-स्वरूप

'माया' का अतिक्रम करने में समर्थ हो चुके हैं, वे मल-पाक के कारण भगवत्-कृपा को प्राप्त कर 'देवता-पद पर आरूढ़ होते हैं। इनका नाम 'मन्त्र' है। आत्मिक विकास हुए बिना यथार्थ 'देवत्व' प्राप्त नहीं होता।

यहाँ 'माया' के अन्तर्गत रहनेवाले देवताओं की चर्चा नहीं हो रही है। मायातीत 'देवता' की एकमात्र 'शुद्ध देह' ही रहती है, 'अशुद्ध देह' नहीं रहती, परन्तु 'गुरु' की अवस्था भिन्न होती है। मल यदि अत्यन्त परिपक्व होता है, तो चैतन्य-शक्ति का अवतरण अवश्यम्भावी है। मल-पाक की तीव्रता के कारण कर्तृ-भाव का आवेश स्वाभाविक है। अतः ऐसे जीवाणु अणु-दीक्षा प्राप्त कर 'गुरु' का अधिकार लाभ करते हैं।

तत्त्व-भेद के क्रम से 'गुरु' - अधिकार - प्राप्त जीवाणुओं का जितना ही आत्मिक विकास हो, उतना ही यथेष्ट है। जो जिस तत्त्व में अवस्थित है, 'गुरु'-पद पर अधिरूढ़ होने पर भी उसका 'मायिक' देह उसी तत्त्व का हो जाता है, परन्तु भगवान् के अनुग्रह से जिस 'विशुद्ध देह' या 'वैन्दव देह' की प्राप्ति होती है, वह 'गुरु'-पद-वाच्य सभी जीवाणुओं के लिए एक ही प्रकार का होता है।

जब तक 'माया-तत्त्व' का भेदन नहीं होता, तब तक 'गुरु' के दो शरीर होते हैं—१ गुरु - प्रदत्त 'शुद्ध देह', जो 'महा-माया' या 'कुण्डलिनी' के उपादान से गठित होती है और २ अपना-अपना 'मायिक' शरीर, जो जीवाणु के क्रम - विकास की मात्रा के अनुसार किसी - न - किसी तत्त्व के आश्रित रहता है। अर्थात् किसी का 'मायिक' स्थूल देह पार्थिव, किसी का जलीय, किसी का तैजस इत्यादि होता है।

देह के विकास से अभिप्राय है देह के उपादान को निम्न - वर्ती तत्त्व से ऊर्ध्व तत्त्व में परिणत करना। 'कार्य' की गति 'कारण' को ओर होती है और 'कारण' की गति उसके 'स्व-कारण' की ओर। इस प्रकार पार्थिव देह जलीय में और जलीय देह तैजस में परिणत हो सकती है। यही देह का उपादान-गत उत्कर्ष है।

भगवान् के अनुग्रह की प्राप्ति उक्त तत्त्व-भेद-रूपी उत्कर्ष पर निर्भर नहीं करती। यह उत्कर्ष प्राकृतिक क्रम-विकास का फल है। चैतन्य - शक्ति का अवतरण एक - मात्र मल की परिपक्वता के ऊपर निर्भर करता है। इसी कारण कोई तो 'पृथ्वी-तत्त्व' का भेदन किए बिना ही भगवद्-अनुग्रह को प्राप्त हो जाते हैं और कोई 'माया-तत्त्व' का अति-क्रम करके भी उसे प्राप्त नहीं होते।

तत्त्व-भेदन के ऊपर शक्ति का अवतरण निर्भर नहीं करता, परन्तु यह निश्चित है कि 'माया-तत्त्व' का भेदन करने पर भी जब तक 'जीवाणु' का मल पाक-करण-भाव की अभिव्यक्ति के लिए उपयोगी नहीं होता, तब तक उसके ऊपर भगवान् की अनुग्रह-शक्ति सञ्चरित नहीं होती। ऐसे जीवाणुओं को कल्पान्तर के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है क्योंकि 'देव - देह' की रचना सृष्टि - समय में नहीं होती, सृष्टि के प्राक्-काल में होती है।

यदि 'माया - भेदन' न हो, तो कोई बात ही नहीं है क्योंकि जब तक 'माया - भेदन' नहीं हो जाता, तब तक किसी भी जीवाणु में मल-पाक के कारण भगवान् का शक्ति - पात होने पर भी 'देवत्व' का आविर्भाव सम्भव नहीं है। 'माया' के भेदन के बाद जो जीवाणु मल - पाक के फल - स्वरूप भगवद्-अनुग्रह लाभ की योग्यता प्राप्त करते हैं, उनके ऊपर कल्पान्तर में शक्ति का अवतरण होता है। वर्तमान कल्प में ये सभी जीवाणु 'महा-माया' में लीन रहते हैं।

अतएव यह निश्चित है कि किसी विशिष्ट कल्प का 'जीवाणु' अणु-रूप मल - पाक के होने पर भी उस कल्प में 'देवत्व' प्राप्त नहीं कर सकता। यहाँ तक कि 'माया-भेदन' हो जाने पर भी यह सम्भव नहीं होता। दूसरे कल्प के आरम्भ तक उसे 'महा-माया' में विश्राम करना पड़ता है।

पहले कहा जा चुका है कि गुरु में शक्ति के अवतरण की प्रधानता होती है अर्थात् जितना मल-पाक होने पर कर्तृ-भाव का आवेश दीक्षा-काल में सम्भव होता है, उतना होगा ही। 'माया - भेदन' न करने पर भी क्षति नहीं होती। यहाँ तक कि किसी निम्न-वर्ती तत्त्व में अवस्थान करने पर भी क्षति नहीं होती क्योंकि गुरु-भाव की अभिव्यक्ति में जीव की स्व-कृत ऊर्ध्व - गति की मात्रा का निर्देश आवश्यक नहीं होता।

मल के ठीक-ठीक परिपक्व होने पर, स्वीय विकास के फल - स्वरूप जो जहाँ है, वहाँ से ही भगवदनुग्रह लाभ करके शुद्ध देह तथा आचार्य का अधिकार प्राप्त कर सकता है, परन्तु यदि उसका 'माया-तत्त्व-भेदन' हो जाता है, तो उसे नए जन्म के प्रारम्भ तक अपेक्षा करनी पड़ती है।

यह सर्वत्र ही सत्य है कि देवता 'गुरु' के अधीन हैं। 'देवता' स्वभावतः 'महा - माया' के राज्य के अधिवासी हैं, परन्तु 'गुरु' महा-माया के राज्य के अधिवासी होकर भी, एक ही साथ माया - राज्य के भी अधिवासी हो सकते हैं। अवश्य ही यहाँ सृष्टि-कालीन गुरु की बात कही जा रही है, जिनके 'माया' और 'शुद्ध' दोनों देह होती हैं। सृष्टि के अतीत गुरु की बात यहाँ नहीं कही जा रही है—वे माया - देह-रहित तथा विशुद्ध वैन्दव देह से सम्पन्न होते हैं।

उपर्युक्त विवरण में तत्त्व - भेदन - पूर्वक ऊर्ध्व - गति की बात कही गई है। इसकी थोड़ी - सी भली - भाँति आलोचना किए बिना यह बात समझ में नहीं आएगी। अतएव संक्षेप में कुछ कहा जा रहा है।

सृष्टि के पूर्व सृष्टि की मूल उपादान-स्वरूप एक वस्तु रहती है। आपाततः उसे 'जड़' कहा जा सकता है। इसकी एक दिशा (भीतरी) शुद्ध होती है और दूसरी (बाहरी) अशुद्ध होती है। जब तक सृष्टि का उदय नहीं होता, तब तक यह आन्तर-बाह्य विभाग समझ में नहीं आ सकता। यहाँ तक कि यह अचित्-स्वरूप मूल उपादान भी समझ में नहीं आ सकता, परन्तु जब सृष्टि के पूर्व में परमेश्वर की दृष्टि शुद्धांश पर पड़ती है, तब वह ज्योति-रूप में उज्ज्वल होकर चमक उठता है। शुद्ध के बाहर जो अशुद्ध अंश है, वह छाया या अन्धकार के रूप में इस ज्योति - स्वरूप को घेर लेता है। यह शुद्धांश या ज्योति 'महा-माया' है और वह बाहर की छाया 'माया' है।

सूक्ष्म रूप से देखने पर यह पता लगता है कि उक्त दोनों में एक ही अचित् सत्ता है। यह शुद्ध होकर स्तर-स्तर में तत्त्व-रूप से अभिव्यक्त होती है, परन्तु ये तत्त्व अचित् के मूल विभाग नहीं हैं। अचिद् का मूल विभाग है 'पञ्च-कला'। इनमें दो कलाएँ शुद्धांश में और तीन कलाएँ अशुद्धांश में हैं। प्रत्येक 'कला' अवान्तर-भाव से तत्त्व के रूप में अभिव्यक्त होती है। तदनुसार ज्योतिर्मय राज्य में पाँच तत्त्व एवं 'माया' या छाया-राज्य में इकतीस तत्त्व अभिव्यक्त होते हैं।

पञ्च - कलाएँ एक दूसरी के बाद अधिकतः बहिर्मुखी होती हैं। उसी प्रकार इनसे अभिव्यक्त तत्त्व भी इन्हीं के समान ही एक के बाद दूसरे अधिकतर बहिर्मुख होते हैं। जहाँ बहिर्मुखता की परा-

काष्ठा है, उसी का नाम 'पृथ्वी' है। इसी प्रकार जहाँ अन्तर्मुखता की चरम सीमा है, उसका नाम 'शिव' या 'महा-माया' है। वस्तुतः वही 'कुण्डलिनी'-स्वरूपा है।

'शिव'-नाम से परिचित होने पर भी उक्त 'शिव'-तत्त्व वस्तुतः विशुद्ध जड़ - वस्तु है। इसी का नाम 'आदि-तत्त्व' या 'विन्दु' है। तत्त्वातीत 'शिव' या परमेश्वर इससे पृथक् हैं।

स्तर-स्तर में उक्त 'तत्त्व' सुसज्जित हैं। विश्व में सर्वत्र यह क्रम - विन्यास दृष्टि - गोचर होता है। प्रत्येक 'तत्त्व' से अनेक भुवनों का आविर्भाव होता है। तत्त्वों की भाँति 'भुवन' भी गुण, क्रिया, शक्ति प्रभृति के विकास के तार-तम्य के अनुसार ऊपर - नीचे परस्पर शृङ्खला - बद्ध रहते हैं। ऊर्ध्व प्रदेश से सर्वापेक्षा निम्न - तम प्रदेश - पर्यन्त इन भुवनों की समष्टि ही जीव के लिए 'विश्व' के नाम से परिचित है।

जीव अपने-अपने अधिकार और योग्यता के अनुसार प्रत्येक स्तर में विद्यमान हैं। 'सृष्टि-काल' में अर्थात् विश्व में अवस्थान के समय जीव देह-युक्त ही रहता है, परन्तु 'प्रलय-अवस्था' में जीव के देह नहीं रहती। उस समय जीव साक्षात् या परम्परा - रूप से 'माया' में लीन होकर सुषुप्त - वत् स्थिर रहता है। अथवा यदि किसी कौशल से किसी का 'माया - भेदन' हो जाता है, तो वह 'महा - माया' में सुषुप्त-वत् लीन रहता है।

'माया' में जो इकतीस तत्त्व हैं, उनमें से प्रत्येक का आश्रय लेकर जीव रहता है और रह सकता है। इन सब तत्त्वों में जन्य-जनक भाव अथवा अधः-ऊर्ध्व विभाग हैं, यह बात पहले ही कही जा चुकी है। तदनुसार तत्त्व-वर्ती जीव-समूह के भी श्रेणी-विभाग होते हैं, परन्तु ये श्रेणी - विभाग तत्त्व के आपेक्षिक उत्कर्ष-मूलक होते हैं। उससे जीव के स्वकीय उत्कर्ष का परिचय नहीं मिलता।

'प्रलय' जड़ की क्रिया की अपेक्षा रखती है। वह जीव की साधना के अधीन नहीं है। जब उपादान में बहिर्मुखी प्रेरणा आती है, तब सृष्टि की ओर प्रवृत्ति होती है। पक्षान्तर में, जब उपादान में सङ्केत-भाव आता है, तब यह प्रवृत्ति निवृत्ति होकर केन्द्र की ओर आकर्षण बढ़ने लगता है और चरम अवस्था में मूल उपादान-रूप में केन्द्र में स्थिति हो जाती है।

अभिव्यक्ति के नियमानुसार जो जीव इस मूल उपादान का अतिक्रम करके 'महा - माया' में अवस्थान करते हैं, उनसे कोई-कोई मल-पाक के तार-तम्य से नवीन सृष्टि में देव-भाव में आविर्भूत होते हैं। इनकी देह 'वैन्दव' देह होती हैं। ये स्वभावतः मायातीत होते हैं। इसी से शुद्ध होने पर भी ये क्रम - विकास - नियम के अधीन नहीं होते। कहना न होगा कि ये दोनों बातें 'माया' से अतीत भूमि की हैं।

ठीक इसी प्रकार अशुद्ध अथवा मायिक देवता भी हैं। इनका रहस्य समझ में आ जाने पर शास्त्र-वर्णित 'आजान देवता', 'कर्म देवता' आदि। विभिन्न 'देवता-तत्त्व' हृदयङ्गम हो जाते हैं।

आर्य शास्त्र और 'मन्त्र'

'मन्त्र' के शब्दात्मक होने से तथा 'शब्द' के समस्त व्यवहारों का कारण होने से आर्य-शास्त्रों में इसके विषय में बहुत विचार किया गया है। परम कारण 'ब्रह्म' के साथ 'शब्द' का अभेद सम्बन्ध है। 'बाइबिल' में भी कहा गया है--**"इन दि बिगनिङ्ग वाज़ वन वर्ड, ऐण्ड वर्ड वाज़ विद गॉड, ऐण्ड दि वर्ड वाज़ गॉड"**--अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में केवल 'शब्द' था, वह परमात्म-स्वरूप था।

परा-शक्ति जब सृष्टि करने की इच्छा से ध्रुव रूप से 'ब्रह्म' का प्रकाशात्मक भाव, तथा विषय का 'इदं' रूप से विमर्शात्मक रूप धारण कर विषयी और विषय - रूप को व्यक्त करती है, उसका हेतु 'शब्द' ही माना जाता है। महर्षि व्यास ने वेदात्म-दर्शन के सूत्र १-३-२८ में सृष्टि का कारण 'शब्द' को ही बताया है--**"शब्द इति चेन्नातः प्रभावात् प्रत्यक्षातु माताभ्याम्।"**

श्रुति, स्मृति, प्रमाण से 'शब्द' ही जगत् का कारण है, यह भाष्यकारों ने अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया है। 'शब्द' ही अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था है। इस आदिम अवस्था को **'परा वाणी'** कहते हैं। यह **'ब्रह्म की भाषा'** कही जाती है; 'मूलाधार' से इसकी अभिव्यक्ति होती रहती है। इसे योगी ही जान सकते हैं। मन्त्रों, बीजों का विकास इसी से होता है।

जब 'विमर्श' और 'प्रकाश' की स्थूलावस्था होने लगती है, तब उसे **'नाद'** कहा जाता है। **'नाद'** में समस्त वर्ण अर्थ-प्रकाशन-रूप-सामर्थ्य से रहते हैं। ज्यों-ज्यों सृष्टि स्थूल रूप धारण करती है, त्यों-त्यों 'शब्द' भी स्पष्ट-रूप धारण करता जाता है। क्रम से—**१ पश्यन्ती, २ मध्यमा** और **३ वैखरी**-इन तीन वाणी-रूपों को धारण कर समस्त वैदिक, लौकिक, व्यवहार का कारण 'शब्द' ही बन रहा है। 'परा-वाणी' सत्य और नित्य मानी गई है। शेष वाणियों में माया या अज्ञान के परिणामों का सम्बन्ध होने से क्रमशः तारतम्य हो गया है। सत्य का प्रकाश न्यून होने से ही इनमें न्यूनता मान कर तीन अतिरिक्त भेद किए गए हैं।

व्याकरण-शास्त्र में वर्णों से भिन्न 'स्फोट' को 'शब्द' बताया गया है। 'नाद' वर्ण का नाम है—**"नादाभिव्यंज्यः शब्दः स्फोटः'**--'नाद' या 'वर्ण' से स्फोट की व्याप्ति या प्रकाश होता है और वह नित्य है। उपवर्णाचार्य के मत से 'वर्ण' ही 'शब्द' है। **'स्फोट-वाद'** को महर्षि पातञ्जलि, भर्तृहरि, कैयट आदि प्रसिद्ध वैयाकरण मानते हैं। नागेश भट्ट ने **'स्फोट-मत'** का ही 'परम लघु मञ्जूषा' में प्रतिपादन किया है। 'शब्द'-तत्त्व को व्यक्त करने के लिए ६३ अथवा ६४ वर्ण माने जाते हैं—**"त्रिषष्टि-चतुष्षष्टिर्वा वर्णाः शम्भु - मते मताः। प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयं - भुवा। आत्म - बुद्धया समेत्यार्थात् मनोयुङ्क्ते विवक्षया मनः, कायाग्निमादन्ति सप्त - रमति मारुतम्। चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।"** (पाणिनीय शि० ३, ६, ७)। प्राकृत तथा संस्कृत में ६३ या ६४ वर्णों को स्वयं स्वयम्भू भगवान् ने कहा है।

'आत्मा', बुद्धि के द्वारा अर्थों को लेकर मन के साथ बोलने की इच्छा से युक्त होती है। 'मन' शरीर की अग्नि में आघात करता है। वह आघात 'वायु' की प्रेरणा करता है, जिससे वक्षः-स्थल में गम्भीर स्वर की उत्पत्ति होकर (पश्यन्ती, मध्यमा से आगे) वैखरी नामक अत्यन्त 'स्थूल वाणी' प्रकट होती है।

'शब्दः खे पौरुषं नृषु', 'शब्द-ब्रह्मणि वर्तते', 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म'-इत्यादि 'गीता' के वचनों में भी 'शब्द-तत्त्व' की विवेचना की गई है। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के भेदों से-१ षड्ज, २ ऋषभ, ३ गान्धार, ४ मध्यमा, ५ पञ्चम, ६ धैवत और ७ निषाद--ये सात स्वर भी शब्द के उच्चारण में माने

जाते हैं। 'योग-शास्त्र' में १ नाद, २ विन्दु, ३ कला—ये तीन नाम 'शब्द' को अवस्था-भेद से दिए गए हैं। जैसे-जैसे अर्थों में विचित्रता होती जाती है, वैसे-वैसे 'शब्द' भी 'रूप' धारण करता जाता है।

शुद्ध, सात्विक, दैवी भाव का व्यञ्जक शब्द ही—**'मन्त्र'** कहलाता है। दैवी भाव के व्यञ्जक चार सम्प्रदाय मन्त्रों से ही बने हैं, जिन्हें **१ वैदिक, २ पौराणिक,** ३ **तान्त्रिक** और ४ **शाबर** कहते हैं। उत्तरोत्तर की अपेक्षा पूर्व को श्रेष्टत्व है, अर्थात् शाबर से तांत्रिक, तांत्रिक से पौराणिक, पौराणिक से वैदिक मन्त्र श्रेष्ठ माने जाते हैं। तान्त्रिक कुल ५१ वर्णों की संख्या मानते हैं, शेष १२, १३ वर्ण वेद में उच्चारण-भेद से माने जाते हैं। वास्तव में ५१ मातृकाओं में ही वाङ्मय का समावेश यथार्थ रूप में हो जाता है। तन्त्रों में विशिष्ट भावों को प्रकट करने के लिए बीज - मन्त्रों को भी माना गया है। भगवान् की आठ मुख्य प्रकृतियों के सदृश 'बीज-मन्त्र' भी **'ॐकार'-स्वरूप 'शब्द-ब्रह्म'** की आठ प्रकृति-रूप से प्रधान माने गए हैं।

ऐं, ह्रीं, श्रीं, क्लीं, क्रीं, ट्रीं, स्त्रीं, ह्लीं—ये आठों बीज **ॐ-कार** रूप **'शब्द-ब्रह्म'** की प्रधान शक्ति माने जाते हैं। 'लिङ्ग-पुराण' में प्लुत-स्वर - विशिष्ट **ॐ-कार** ही को नाद माना गया है। 'मन्त्र-शास्त्र' में मन्त्रों के तीन प्रकार माने गए हैं—**१ बीज-मन्त्र, २ मन्त्र** और **३ माला-मन्त्र,** जिनमें से **'मन्त्र'** और **'माला - मन्त्र'** का अर्थ तो प्रकट होता है, किन्तु **'बीज-मन्त्र'** जप से अपने अर्थ बताते हैं। व्युत्पत्ति की अपेक्षा से उनका अर्थ नहीं होता—जैसे **'क्रीं, ह्रीं, हुँ, फट्'** आदि। इन मन्त्रों से 'मन्त्र-शास्त्र' की प्रणाली द्वारा विभिन्न सिद्धियों की प्राप्ति साधक को होती है। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत स्वरों के उच्चारण-प्रकार के ज्ञान से तथा पूरक मन्त्र की सहायता से ही **'मन्त्र-सिद्धि'** होती है। इसी से **'कुण्डलिनी'** का उत्थान होता है और सुप्त नाना दैवी शक्तियाँ जागृत होती हैं। तभी जीव अविद्या से मुक्त होकर ब्रह्मानन्द का भोक्ता बनता है।

'मन्त्र' में १ छन्द, २ ऋषि, ३ देवता, ४ बीज, ५ कीलक और ६ शक्ति—ये छः बातें मुख्य रूप से मानी जाती हैं। वैदिक मन्त्रों में--१ छन्द, २ ऋषि और ३ देवता—इन तीन बातों का ही उपयोग होता है। 'शाबर' मन्त्रों के विषय में—**'अनमिल आखर अर्थ न जापू'** और **"शाबर-मन्त्र-जाल जिन सिरजा"** आदि पद्यों का स्मरण किया जाता है। 'पौराणिक मन्त्र' 'भाव-प्रधान' होते हैं—**'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'** आदि। इन मन्त्रों में क्रिया की गौणता होती है। इष्ट-रूप की 'भावना' मन में सतत बने रहने से ही **'मन्त्र-सिद्धि'** होती है। क्रिया की मुख्यता तान्त्रिक मन्त्रों में ही अपेक्षित है, वैदिक मन्त्रों में 'भावना' और 'क्रिया' दोनों मुख्य हैं।

'मन्त्र' में चैतन्य-शक्ति का सञ्चार 'शक्ति' से होता है। 'मन्त्र-योगी' को इन रहस्यों को ध्यान में रखकर 'मन्त्र-साधना' में प्रवृत्त होना चाहिए। इसके अतिरिक्त विशिष्ट भावों की अभिव्यक्ति के लिए **अन्तर्मातृका-न्यास, बहिर्मातृका-न्यास, षोढा-न्यास, प्रपञ्च-न्यास, देव-न्यास, शक्ति-न्यास, श्रीकण्ठ-न्यास** आदि कहे गए हैं। **अन्तर्याग एवं बहिर्याग** द्वारा देवता का पूजन, तर्पण, होम, पुरश्चरण, संस्कार आदि के द्वारा 'मन्त्र' शीघ्र ही सिद्ध होता है। बिना मन्त्र-चैतन्य हुए 'देवता का स्वरूप' ज्ञात नहीं होता। देवता का व्यक्त रूप साधक के सम्मुख तभी होता है। पर-ब्रह्म परमात्मा ही देवता के रूप में, अपनी ज्ञान-शक्ति द्वारा व्यक्त होता है। अनेक देवताओं के भिन्न - भिन्न स्वरूप जो आर्य-धर्म में माने गए हैं, उनका यह रूप-वैचित्र्य मन्त्रों द्वारा ही ज्ञात होता है और मन्त्रों द्वारा ही उनकी अनेकता व्यक्त हुई है, तथापि उनमें प्रकट चेतनत्व एक ही है।

मन्त्र–विद्या पर एक दृष्टि

'मन्त्र - विद्या' भारत - वर्ष की बहुत प्राचीन विद्या है। यह बात इतिहास से भी प्रकट है कि भारतीय आर्य ही भिन्न - भिन्न भू - खण्डों में जाकर निवास करने से, भिन्न - भिन्न जातियों के नाम से व्यवहृत हुए हैं। आदिम सृष्टि एवं सभ्यता का उद्गम भारत ही है। आर्य लोग, जैसे अपनी अन्य संस्कृति को भारत से ले गए, वैसे ही उन देशों में अपनी रहस्य-मयी परम गोपनीया **'मन्त्र-विद्या'** को भी अपने साथ ले गए।

ईराक, अरब जैसे विदेशों में कई शक्ति-स्थान अभी भी पूजे जा रहे हैं। **'क्लीं'** और **'ह्रीं'** के अपभ्रंश क्रमशः **'करीम'** और **'रहीम'** इस्लाम संस्कृति में कितने प्रचलित हैं! यहाँ तक कि सूफियों, सन्तों और आधुनिक काल के महात्मा गांधी तक ने उन्हें अपनाया—**'राम - रहीम'** की धूम मच गई! रूस तथा योरप के भिन्न-भिन्न भागों में भी **'मन्त्र-विद्या'** के भिन्न-भिन्न स्वरूप दृष्टि-गत होते हैं। चीन और तिब्बत तो मान्त्रिक देश ही माने जाते हैं। जापान की सूर्योपासना प्रख्यात है। **'मन्त्र-विद्या'** के इतने विस्तृत प्रचार को सारे विश्व में देखकर इसकी प्राचीनता एवं प्रामाणिकता में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

अनादि अनन्त सच्चिदानन्द-स्वरूपिणी **परा-शक्ति** ही **'मन्त्र-शास्त्र'** का वाच्य है। यद्यपि शैव, वैष्णवादि मन्त्र भी लोक में प्रसिद्ध हैं, तथापि वे सभी 'शक्ति' के ही स्वरूप हैं। श्रीगौड़पादाचार्य के—**'अथ शाक्त-मन्त्रागम-जिज्ञासा'** सूत्र की व्याख्या में श्री शङ्करारण्य ने कहा है—**'शक्ति-सम्बन्धावच्छिन्न-तया सर्वस्य शाक्तत्वात्।'** अर्थात् सभी मन्त्रों में 'शक्ति' रहने से सभी **'मन्त्र'** शाक्त हैं। शक्ति-पदार्थ ही मन्त्र, गुरु और देवता का रूप धारण करके साधना का मुख्य आधार प्रस्तुत करता है। यद्यपि प्रथमावस्था में १ मन्त्र, २ गुरु और ३ देवता—ये तीनों भिन्न- भिन्न प्रतीत होते हैं, तथापि इनकी भिन्नता वास्तविक नहीं है।

मन्त्र, गुरु और देवता—इन तीनों का अनेक प्रकार का विस्तार **'षडाम्नाय'** नाम से कहा जाता है। **'पूर्वाम्नाय'** में २४ सहस्र देवता माने गए हैं, ३० सहस्र **'दक्षिणाम्नाय'** में, ३ सहस्र **'पश्चिमाम्नाय'** में, २ सहस्र **'उत्तराम्नाय'** में और १ सहस्र **ऊर्ध्वाम्नाय'** में। यह संख्या 'श्रीविद्या-रत्न-सूत्र' की व्याख्या में १० वें सूत्र से १४ वें सूत्र तक निर्दिष्ट है। 'सप्त-विंशति-रहस्य' में भी इसी से मिलती-जुलती देव-गणना निर्दिष्ट है। इन देवताओं के असंख्य 'मन्त्र' हैं। किसी-किसी स्थान पर मन्त्रों की संख्या सात करोड़ बताई गई है, जिनके वेत्ता एक - मात्र भगवान् शिव ही हैं। कदाचित् ही कोई मन्त्र - शास्त्री इन सभी मन्त्रों को जानता होगा।

मन्त्र-शास्त्र और योग

योग-शास्त्र के समुद्धर्त्ता एवं स्रष्टा महर्षि पतञ्जलि की 'योग-दर्शन'-सम्बन्धी अमूल्य देन भी 'मन्त्र-शास्त्र' का ही एक अभिन्न अङ्ग है। दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। 'योग' की परिभाषा देते हुए महर्षि पतञ्जलि ने कहा है--**"योगश्चित्त-वृत्ति-निरोधः।"**

अर्थात् **'चित्त-वृत्तियों के निरोध का नाम ही योग'** है। इसी चित्त-वृत्ति-निरोध-रूपी कर्म की कुशलता को 'गीता' में योग के नाम से अभिहित कर परिचय दिया है—**'योगः कर्मसु कौशलम्'** अर्थात् 'चित्त-वृत्ति-निरोध' की कुशलता ही आध्यात्मिकता का मूल है। यही 'चित्त-वृत्ति-निरोध' 'मन्त्र-शास्त्र' का भी आधार है। इसीलिए सम्भवतः 'योग' को आध्यात्मिक जगत् में इस प्रकार कहा जाता है-- **'जीवात्मा - परमात्मयोः संयोगः योगः'**—अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा के संयोग का नाम ही 'योग' है।

'योग' के प्रमुख-तया आठ अङ्ग कहे गए हैं—१ **यम, २ नियम, ३ आसन, ४ प्राणायाम, ५ प्रत्याहार, ६ धारणा, ७ ध्यान और ८ समाधि।**

'यम' के पाँच प्रकार कहे गए हैं--१ अहिंसा, २ सत्य, ३ अस्तेय, ४ ब्रह्मचर्य और ५ परिग्रह।

'नियम' भी पाँच निर्दिष्ट हुए हैं--१ शौच, २ सन्तोष, ३ तप, ४ स्वाध्याय और ५ ईश्वर-प्रणिधान।

'यम-नियम' की उक्त १० विधियों का पालन प्रत्येक साधक के लिए परमावश्यक है। इनका पालन किए बिना कोई भी साधना सफल हो ही नहीं सकती क्योंकि जहाँ इनके द्वारा एक साधक की आध्यात्मिक प्रगति होती है, वहाँ ऐश्वर्य-प्राप्ति भी होती है।

'योग-दर्शनोक्त' उक्त **'यम-नियम'** सर्व-साधारण में प्रचलित तथा सबके उपयुक्त एवं सर्व-मान्य हैं, किन्तु **'रुचीनां वैचित्र्यात्'** होने से 'ब्राह्मण-मण्डलोपनिषद्' में उल्लिखित **'यम-नियम'** साधना की दृष्टि से अधिक महत्त्व-पूर्ण तथा साधकोपयोगी हैं। इस उपनिषद् के अनुसार पाँच 'यम हैं-१ **शीतोष्ण आहार, निद्रा-विजय, ३ सर्वदा शान्ति, ४ निश्चलत्व और ५ विषयेन्द्रिय-निग्रह।**

'नियम' नौ हैं-१ गुरु-भक्ति, २ सत्य-मार्गानुरक्ति, ३ सुखागत-वस्तु में अनुराग, ४ उस वस्तु के अनुभव से तुष्टि, ५ निःसङ्गता, ६ एकान्त-वास, ७ मनो-निवृत्ति, ८ फल की अनभिलाषा ९ वैराग्य-भाव।

उक्त **'यम-नियम'** यद्यपि कुछ कष्ट-साध्य हैं, परन्तु सद्यः फल-प्रद हैं, अतः आध्यात्मिक महत्त्व रखते हैं।

'आसन' स्थिर सुख को कहते हैं--**'स्थिर-सुखमासनम्'**। यहाँ स्थिर सुख से तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार भी तथा जिस 'आसन' द्वारा चिर-काल तक 'सु-स्थिति' रह सके। इस आसन के ही 'पद्मासन', 'सिद्धासन' आदि अनेक भेद हैं, जो जप, ध्यान, अर्चा आदि की दृष्टि से उपयोगी होते हैं। इसी दृष्टि से 'मन्त्र-शास्त्र' में भी 'योग' के अङ्ग--**'आसन'** की उपयोगिता बतलाई गई है क्योंकि **'आसन'** पर 'सिद्धि' तथा 'नियन्त्रण' प्राप्त होने पर ही सांसारिक बन्धों को सरलता से जीता जा सकता है।

'प्राणायाम' उस अवस्था-विशेष को कहते हैं, जिसके सम्पन्न होने पर श्वास-प्रश्वास की गति विच्छिन्न हो जाय—**'तस्मिन् सति श्वास - प्रश्वासयोर्गति - विच्छेदः प्राणायामः ।'** यह कहना भी कोई अत्युक्ति न होगी कि 'प्राणायाम' ही 'निदिध्यासन' का दूसरा अभिधान है। योग-स्थिति के लिए 'प्राणायाम' या 'निदिध्यासन' की महत्ता स्वतः स्पष्ट है, क्योंकि बिना 'प्राणायाम' श्वास-प्रश्वास पर पूर्ण अधिकार हो ही नहीं सकता—'चित्त-वृत्ति-निरोध' भी सम्भव नहीं। इसलिए 'प्राणायाम' साधना के लिए 'योग' एवं 'मन्त्र-शास्त्र' दोनों की दृष्टि से आवश्यक है। साथ ही 'अन्तः - शुद्धि' के लिए इसका बहुत ही महत्त्व है।

'प्रत्याहार' के विषय में महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है—**'स्व-विषयासम्प्रयोगे चित्त-स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।'**

अर्थात् अपने-अपने विषयों में इन्द्रियाँ जब अनासक्त होकर, अन्तर्मुखी हो अपने स्वरूप में ही तदाकार तथा तल्लीन हो जाती हैं, तो वह **'प्रत्याहार'** कहलाता है। इस 'प्रत्याहार' द्वारा सांसारिक विषयों से मानव-मन ऊपर उठ जाता है तथा सर्व - वस्तु-त्याग की क्षमता प्राप्त होती है। अतः योगियों तथा 'मन्त्र-शास्त्र' के साधकों के लिए 'प्रत्याहार' का महत्त्व प्रकट ही है।

'धारणा' को साधारण-तया 'चक्र-ध्यान' भी कहते हैं। 'धारणा' के विषय में 'योग-दर्शन' में लिखा है—**'देश-बन्धश्चित्तस्य धारणा ।'**

अर्थात् षट्-चक्र-रूप जो देश-बन्ध हैं, उनमें चित्त-स्थिति होना ही 'धारणा' है। अतः 'चक्र-ध्यान' भी 'धारणा' ही को कहा जा सकता है। **'ध्यान'** के विषय में कहा गया है कि—**'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्'** अर्थात् षट्-चक्रों में तल्लीनता तथा एकात्मकता एवं एक-तानता होना ही 'ध्यान' है। इस प्रकार **'धारणा'** और **'ध्यान'** को **'जप - भावना'** भी कहा जा सकता है। **'जप - भावना'** का तात्पर्य **'तज्जपस्तदर्थ-भावनम्'** के अनुसार तदर्थ-भावना से है। बिना 'ध्यान' या 'तदर्थ-भावना' के हमें 'इष्ट-सन्निधि' तथा 'इष्ट-प्राप्ति' कदापि सम्भव नहीं, अपितु अनिष्ट की सम्भावना रहती है। **'देवो भूत्वा देवं यजेत्'** के अनुसार तद्-रूपता तथा तद्-रमयता **'मन्त्र-साधना'** के लिए आवश्यक है। इसी से 'योग' के इस प्रमुख अङ्ग पर 'मन्त्र - शास्त्र' बल देता है क्योंकि **'ध्यान'** 'मन्त्र - साधना' का प्रमुख - तम विषय है।

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार अपने 'स्वरूप - ज्ञान' की शून्यता होकर, 'चक्र' के अर्थ - मात्र का आभास होना ही **'समाधि'** है। जैसा कि कहा है—**तदेवार्थ - मात्रा - निर्भासं स्वरूप - शून्यमिव समाधिः ।**

'समाधि' योग का प्रमुख अङ्ग है। इसे 'फल-दर्शन' तथा 'फल-स्वरूप भावना' भी कहते हैं क्योंकि समाधि द्वारा उन-उन अवस्थाओं में उन-उन फलों का स्पष्ट दर्शन होता है। 'फल-स्वरूप-भावना' के विषय में लिखा है—**भुवन-ज्ञानं सूर्ये संयमात् ।**

अर्थात् स्व-शरीर के अन्दर 'सूर्य' में ध्यान लगाने से तथा 'सूर्य-काल' में 'त्राटक' या 'ध्यान' करने से चौदहों भुवनों का ज्ञान होता है। और—**'चन्द्रे तार-व्यूह-ज्ञानम्'** अर्थात् स्व-शरीर के अन्दर 'चन्द्र' में ध्यान करने से ताराओं के व्यूह का स्पष्ट ज्ञान होता है। 'फल - स्वरूप' के विषय में ऐसे ही अनेक सूत्र हैं। इन्हीं को **'समाधि-फल'** भी कहते हैं।

ध्यान, धारणा और समाधि—ये तीनों एक त्रिपुटी-स्वरूप हैं। तीनों तत्त्वतः एक ही वस्तु हैं। कहा भी है—**'त्रयमेकत्र संयमः।'** तीनों में कोई विशेष अन्तर नहीं, अपितु तीनों का एक समान महत्व है। ये तीनों 'योग' के तीन कोष हैं। इनका महत्त्व 'मन्त्र-शास्त्र' भी 'तदाकारता' तथा 'एकत्व'-प्राप्ति के लिए बारम्बार घोषित करता है, क्योंकि यही 'एकत्व'—'एक-तानता' तो साधक की महान्-तम सफलता है, जो 'योग' तथा 'मन्त्र-शास्त्र' द्वारा प्रतिपादित है।

इस प्रकार हमने देखा कि 'मन्त्र-शास्त्र' द्वारा समर्थित तथा निष्पादित आसन आदि अष्टाङ्गों की समष्टि ही 'योग' है और 'योग' तथा 'मन्त्र - शास्त्र' परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना दूसरा अपूर्ण हैं। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से तत्त्वतः 'मन्त्र - शास्त्र' तथा 'योग' की साधनाएँ परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध रखती हैं। एक के अभाव में दूसरी सफल नहीं हो सकती। यही कारण है कि 'मन्त्र-शास्त्र' में 'योग' का महत्त्व बारम्बार प्रतिपादित हुआ है।

यही नहीं, तन्त्र-शास्त्र एवं मन्त्र-शास्त्र के ग्रन्थों में तथा विभिन्न आध्यात्मिक ग्रन्थों में यौगिक प्रक्रियाओं तथा मन्त्र-शास्त्रीय प्रक्रियाओं का युग-पत् प्रयोग हुआ है। प्रायः सर्वत्र ही 'मन्त्र-शास्त्र' के प्रसङ्ग में 'योग' का प्रकरण स्वभावतः प्राप्त होता ही है। महा-देवी की पूजन-पद्धति में लिखा है—

जो साधक रविवार को ऊर्ध्व-सहस्र-दलोपरि षड्-दल, तदुपरि चतुर्दल मूलाधार में श्री भगवती का, जो पार्थिव रश्मियों से आवृत हैं, पूजन करता है, वह सौभाग्य-पात्र होता है। चन्द्रवार को नाभि में स्थित मणि-पूरक चक्र के मध्यस्थ, जल-रश्मियों से आवृत श्री-चक्र का पूजन करे। तैजस रश्मियों से आवृत श्री-चक्र का भौम-वार के दिन लिङ्ग-देश-स्थित स्वाधिष्ठान पर पूजन करे। बुधवार को हृदय-रूपी कमल पर विराजमान अनाहत में स्थित, वायु-रश्मियों से आवृत, श्री-चक्र का क्रमशः पूजन करे। गुरुवार को समाहित-चित्त होकर विशुद्धि-चक्र पर विराजमान आकाशांशुओं से आवृत श्री-चक्र का सर्वार्थ-सिद्धि के लिए यजन-पूजन आदि करे। शुक्रवार को आज्ञा-चक्र पर विराजमान तथा मानसांशुओं से आवृत श्री-चक्र का सौभाग्य-सिद्धि के लिए पूजन करे। शनिवार को कपाल पर स्थित ब्रह्म-रन्ध्र में विराजमान, सर्व-रश्मियों से आवृत सहस्रार में जगत् की विधातृ-शक्ति का पूजन करे।

इस प्रकार जो व्यक्ति समाहित-चित्त होकर प्रति-दिन मन से पूजन-यजन तथा ध्यान करता है, वह कभी रोगी नहीं होता और न दरिद्री ही होता है। शीघ्र ही ग्रह-पीड़ाओं से मुक्ति पाकर पुत्र-पौत्रादि के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होता है।

इस प्रकार स्पष्ट हो गया कि मन्त्र-शास्त्र तथा योग-शास्त्र का तादात्म्य-सम्बन्ध है। मन्त्र-चैतन्य, मन्त्र-शिखा और मन्त्र-देवता—ये सभी विषय षट्-चक्र, कुण्डलिनी और प्राणायाम से सम्बन्ध रखते हैं। 'तन्त्र-शास्त्र' के अन्दर 'मानसिक पूजा' 'मानसिक तर्पण', 'मानसिक हवन' आदि विषय विस्तार-पूर्वक वर्णित हैं। ये सभी बातें 'योग' से सम्बन्ध रखती हैं।

मानस-पूजा—'महा-निर्वाण तन्त्र' में आसन—हृदय, पाद्य—सहस्रार-स्थित सोमामृत, अर्घ्य—मन, आचमनीय और स्नान-जल सब—सहस्रार अमृत, वसन—आकाश- तत्त्व, गन्ध—पृथिवी-तत्त्व, पुष्प—चित्त-वृत्तियाँ, धूप—प्राण, दीप—तेज - तत्त्व, नैवेद्य—रस - समूह, घण्टा-ध्वनि—अनाहत-नाद, चमर—वायु-तत्त्व और नृत्य को इन्द्रियों की चञ्चलता तथा कर्म कहा है। अन्त में माया-अभाव, अहङ्कार-

शून्यता, अराग, ममता का नाश, अमोह, अदम्भ, द्वेष - शून्यता, क्षोभ का अभाव, मात्सर्य-शून्यता और निर्लोभ—ये सभी पुष्पाञ्जलि में दिए जाते हैं ।

मानस-तर्पण—वह्नि-मण्डल के मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्र-द्वय के आधार पर, सूर्य-मण्डल के मणिपुर और अनाहत चक्र-द्वय-रूपी पात्र में, सोम-मण्डल के विशुद्ध और आज्ञा-चक्र-द्वय-रूपी परामृत से, जो अमा - कला से स्व-शक्ति-पर-शिव के संयोग से उत्पन्न हुआ है, पर - देवता की तृप्ति होती है । तर्पण का अर्थ है तृप्ति कराना । इसकी प्रयोग-विधि यह है कि प्राणायाम करके, अपने को अपनी इष्ट पर-देवता में पूर्ण-भाव से समर्पण करना चाहिए । तब इस मानसिक प्रक्रिया के फल-स्वरूप जो एक विशिष्ट आनन्द होगा, उस भाव को भी देवता में समर्पण कर उसकी तृप्ति करनी चाहिए । इस प्रकार कम-से-कम तीन बार करना चाहिए ।

मानसिक हवन—अपने परमात्म-ज्ञान के आधार पर, अन्तरात्म-स्वरूप में चिद्-रूपी कुण्ड में जिसके आनन्द-रूपी मेखला और नाद-विन्दु - रूपी योनि है, यथार्थ-ज्ञान-रूपी अग्नि में स्वाधिष्ठान या मणिपुर-चक्र में, जैसा गुरु-क्रम हो, बहिर्मुखी वृत्तियों की अर्थात् बहिरिन्द्रिय-द्वारा बोधित विषयों की मन-रूपी स्रुवा द्वारा प्रथम आहुति दे । आगे अहन्ता, असत्य, पैशुन्य, काम, क्रोध, मद, रुज (रोग), हिंसा, नास्तिक्य, अज्ञान, अदया, दम्भ, कैतव, व्रीडा, अनृजुत्व, दारिद्रय, शोक, मत्सर, अक्षमा, अमिताहार, भय, निद्रा, सुखेतरता, अधैर्य, दुष्ट-सञ्चार, नीच-सङ्गत, अविद्या, आसुर-भाव, पुण्य-पाप, कृत-अकृत, सङ्कल्प-विकल्प, धर्म-अधर्म इत्यादि की आहुतियाँ **'जुहोमि स्वाहा'** मूल-मन्त्र के साथ दी जाती हैं ।

योग-शास्त्र एवं मन्त्र-शास्त्र के इस संक्षिप्त विवेचन में हमने स्पष्ट रूप से देखा कि इन दोनों का परस्पर कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है । 'योग' तथा 'मन्त्र-शास्त्र' दोनों ही एक वस्तु के दो रूप हैं, केवल बाह्य अन्तर है । इसी कारण आध्यात्मिक जगत् में दोनों का समान महत्त्व है । साथ ही प्रत्येक साधक को साधना की सफलता में दोनों का ज्ञान आवश्यक है । कहा भी है—

मन्त्राभ्यास-योगेन ज्ञानाज्ञाने विकल्पयेत्, न योगेन विना मन्त्रो न मन्त्रो बिना हि सः ।
द्वयोः राम ! संयोगे, ब्रह्म-संसिद्धि - कारणम् ।।

अतः स्पष्ट है कि 'मन्त्र-शास्त्र' तथा 'योग-शास्त्र' दोनों का संयुक्त ज्ञान ही सम्यक् सिद्धि का कारण है, निरपेक्ष रूप से केवल किसी एक का ज्ञान, अभीष्ट फल प्रदान नहीं कर पाता ।

'मन्त्र' अर्थात् 'बीज-शक्ति'

प्रकृति की वह 'शक्ति', जो किसी भी प्रकार के परिणमन में नाना प्रकार की जीव-कोटियों का संरक्षण कर उनका पुनरुद्भाव करती रहती है और एक चक्र के पूरे होने पर दूसरा चक्र उसी के गर्भ में से प्रारम्भ करती है, विश्व की **'बीज-शक्ति'** कहलाती है।

रासायनिक परिवर्तन से 'जीवाणु' बन सकता है, परन्तु 'बीजाणु' नहीं बन सकता। 'बीजाणु' की उत्पत्ति 'गर्भाग्नि' में ही हो सकती है, अन्यत्र नहीं। द्वित्व को गला कर, एक कर, उस एक में से पुनः दो और सहस्रों करोड़ों की उत्पत्ति करने की सत्ता एक-मात्र 'गर्भाग्नि' में ही है। रज और पराग का एकीकरण गर्भ के सिवा अन्यत्र नहीं होता।

'बीज' का विस्फोट

जो अग्नि 'वृक्ष' अथवा माता-पिता में से 'बीज' को बनाती है, वही उसका 'विस्फोट' करती है। जला हुआ 'बीज' उग नहीं सकता। 'बीज' पर किसी भी प्रकार की जबर्दस्ती करने से वह नहीं उगता। उसे मात्र सिञ्चन की जरूरत होती है। 'पशु-सृष्टि' में एक पशु का 'बीज' (रज-वीर्य-सम्मिलन) दूसरे पशु के गर्भ में नहीं उगेगा। यदि एक कोटि के पशु के रज और वीर्य का मिश्रण शुद्ध नमक के घोल में रखा जाय, तो वह थोड़ी देर जीवित रहकर मर जायगा। यदि उसे किसी भी गर्भ में डाला जाए, तो भी वह नहीं जिएगा। उसे जीवित रख, उसमें से जीवन का विकास करने के लिए निम्न-लिखित पाँच बातें आवश्यक हैं—

(१) उसको उसी पशु के गर्भ में स्थापित करना चाहिए, जिस जाति का वह हो।

(२) बीज को गर्मी पाकर फटना चाहिए।

(३) उसमें से गर्भाशय में जड़ जमनी चाहिए और रक्त उसमें चूसा जाना चाहिए।

(४) रक्त चूसा जाकर, उसका निकास भी गर्भाशय की रक्त-नलिका द्वारा होना चाहिए।

(५) उसे युक्त समय पर थैली के फटने पर बाहर आना चाहिए। इसमें अनुकूलता न होने से मृत का ही जन्म होगा या जन्म पाते ही मर जायगा।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'बीज' की उत्पत्ति स्वयं एक विस्फोट से होती है।

उत्पत्ति के बाद गर्भ में फिर 'बीज' फटता है, जिससे वह गर्भ में अपनी जड़ जमाकर अपने आस-पास अपनी 'आकृति' बना सकता है और अन्त में 'गर्भ' के फटने से 'बीज', 'गर्भ' के बाहर आकर 'विश्व-दर्शन' का अधिकारी होता है। इस प्रकार 'बीज' का तीन बार 'विस्फोट' होता है।

'चिद्-बीज' का विस्फोट

'बीज'-विज्ञान के उपर्युक्त नियमों के अनुरूप **'मन्त्र-साधना'** के अन्तर्गत शून्य-गर्भ में, किसी प्रकम्पन के साथ, अर्थ-रूपी चित् के सम्मिलन से 'बीज' उत्पन्न होता है। साधक दो वस्तुएँ अपने शून्य में एकत्र करता है—**'प्रकम्पोर्मि'** और **'मन्त्रार्थ'**। यही दोनों मिलकर **'बीज'** बन जाते हैं। 'शून्य' (गर्भ) में एकत्र होकर फिर दूसरी बार 'विस्फोट' होता है, जो उस 'शून्य' के अन्दर उसका आकार बना-

कर पोषित होता है। तीसरे 'विस्फोट' में 'शून्य' (गर्भ) के फटने पर वह बाहर आता है। इसी को **'मन्त्र-दर्शन'** कहते हैं। जिस प्रकार बालक की प्रथम क्रिया साँस लेने के प्रयत्न में रो पड़ना, चिल्लाना, चीत्कार आदि हैं, उसी प्रकार 'मन्त्र' अर्थात् **'चिद्-बीज'** की प्रथम क्रिया **'वरदत्व'** है।

संसार की सारी शक्ति को 'मन्त्र' अपने में निहित रखते हैं। देखनेवाले को 'मन्त्र-शक्ति' की पहचान नहीं हो पाती। गाय को जिस तरह देखकर कोई भी यह नहीं कह सकता कि इसमें घृत एक ऐसी शक्ति है, जिससे इसकी (गाय की) कमजोरी तो दूर हो ही जायगी, संसार के जो प्राणी इसके घृत का सेवन करेंगे, व्यवहार करेंगे—उनके शरीर भी पुष्ट होंगे तथा मानसिक शक्ति परिपुष्ट होगी। सारांश यह कि 'मन्त्र-शक्ति' के ऊपरी रूप से किसी को भी उसकी भीतरी शक्ति का परिचय वास्तविक रूप में नहीं मिल सकता।

अनन्त-वीर्या 'मन्त्र-शक्ति'

'मन्त्र-शक्ति' 'साधना' द्वारा प्रकट होती है। 'साधना' से ही 'मन्त्र' की आन्तरिक शक्ति प्रकट होती है। जिस तरह गाय का पालक अपनी क्रिया, प्रक्रिया द्वारा गाय की सेवा करके उससे दूध प्राप्त करता है। फिर उस दूध से क्रियाओं के द्वारा घृत, मक्खन आदि प्राप्त करता है। उसी तरह साधक 'मन्त्र'-साधना से उत्तरोत्तर शक्ति पाता है, जिससे स्वयं तो चमत्कृत होता ही है, संसार को भी चमत्कृत कर देता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'मन्त्र-शक्ति' विश्व के कल्याण के लिए है। विश्व के मानव अपनी साधना द्वारा इनसे लाभान्वित होते रहे हैं और आगे भी होते रहेंगे। विश्व के कल्याण का बीज 'मन्त्र-शक्ति' में ही समाहित है। इसका सङ्केत करते हुए महर्षि वेद-व्यास ने मार्कण्डेय पुराण में (दुर्गा-सप्तशती में) कहा है—

त्वं वैष्णवी शक्तिरनन्त-वीर्या, विश्वस्य बीजं परमाऽसि माया।
सम्मोहितं देवि ! समस्तमेतत्, त्वं वै प्रसन्ना भुवि मुक्ति-हेतुः॥

अर्थात् हे देवि ! तू ही अनन्त शक्ति है। सम्पूर्ण विश्व का बीज तू ही है। विश्व की परमा माया तू ही है। तुमने ही समस्त संसार को अपनी शक्ति से मोहित कर रखा है। तुम्हारे प्रसन्न हो जाने पर ही इस पृथिवी पर प्राणियों को सांसारिक बन्धनों से मुक्ति मिल पाती है, इसलिए तू ही इस संसार में मुक्ति का कारण भी है।

तात्पर्य यह कि उच्च विचार एवं भाव-रूपी 'मन्त्र' की उपासना से, साधना से और प्रयोग से अखिल विश्व का कल्याण होता है। 'मन्त्र-शक्ति' विश्व-जननी की शक्ति है। इसीलिए भारत-वासी इसे 'अनन्त-वीर्या' वैष्णवी-शक्ति कहते हैं।

मन्त्र-शक्ति

और

व्यक्ति-प्रार्थना, संघ-प्रार्थना

(गुप्तावतार बाबा-श्री के प्रवचनों के आधार पर)

वर्तमान तत्त्व-विज्ञान के भावों के सु - लेखकों द्वारा 'कम्प' शब्द का अधिकतम व्यवहार किया जाता है। सम्भव है, इसका कारण इस शब्द में अर्थ-गाम्भीर्य का अधिक होना है।

सामान्यतः इस विश्व में विज्ञान-लाभ के द्वार बुद्धि, मन, देहादि के अनुभव ही कहे जाते हैं। देह-मनादि की उत्तेजना में व्यक्ति को 'कम्प' का अनुभव होता है--यथा अति-काम, अति - क्रोध, अति-मोह, अमुकामुक रक्त-विकार, वात-व्याधि आदि में।

शारीर विज्ञान-पण्डित डाक्टरों का मत है कि मस्तिष्क की अमुकामुक सूक्ष्म शिराओं की क्रिया में, अमुकामुक कारणों से विक्षेप उत्पन्न होना ही इस प्रकार के रोगों का कारण है। रस - शास्त्र - चतुर लोग दाह-कम्प-मूर्च्छा आदि को 'अति - काम' अथवा 'अति - प्रेम' का लक्षण बताते हैं। इन सब कारणों पर मनन करने से इतना तो अवश्य प्रतीत होता है कि--'कम्प' अति उत्तेजित 'मन' की किसी स्थिति में मानवीय देह में उत्पन्न होता है। ऐसा भी अनुभव होता है कि 'कम्प'--'मन' से 'प्राण' में और 'प्राण' से 'देह' में उतरता है।

प्राकृतिक तत्त्व-विज्ञानी बताते हैं कि--गति-वत् 'कम्प' इस विश्व की एक अनादि क्रिया है, जो प्रत्येक प्रकार की गति में से उत्पन्न होती है। जो गति का कारण है, उसे 'कम्प' का भी कारण होना चाहिए।

'शब्द' की गति से बाह्य वातावरण में "कम्प" उत्पन्न होता है। 'कम्प' की तीव्रता गति-शक्ति के आधार पर है। एक साधारण व्यक्ति द्वारा उत्पन्न 'शब्द-कम्प' या 'विचार-कम्प' की अपेक्षा एक जन-सङ्घ द्वारा एक ही प्रकार के 'शब्द' या एक ही प्रकार के विचारों से उत्पन्न 'कम्प' में कहीं अधिक शक्ति होती है। इस प्रकार उत्पन्न हुई शक्ति बहुधा सङ्घ-व्यक्तियों के कल्याण का कारण बन जाती है।

इसी कारण **'व्यक्ति-प्रार्थना'** से **'सङ्घ-प्रार्थना'** विशेष हितकर कही गई है। व्यक्ति अथवा सङ्घ द्वारा मन्त्र-जप, की गई ईश-प्रार्थना अथवा सद्-विचारों से जो 'प्रकम्प' उत्पन्न होते हैं, वे 'कम्प' विश्व-गति के नियमानुसार (कम्प उत्पन्न करनेवाले व्यक्तियों की शक्ति के प्रमाण में) वर्तुल गति पाकर ऊपर जाते हैं और फिर ऊपर से 'कम्प' प्रेरक व्यक्तियों के ऊपर उतरता है। इसी को लोग देवताओं का आशीर्वाद मानते हैं।

शब्द-शक्ति और मन

शब्द की व्याख्या

शब्द आकाश-तत्त्व का गुण है। शून्य में, मूल-गति में से उठनेवाली अमुकामुक गति-शक्तियों की विरुद्ध दिशाएँ पारस्परिक सङ्घर्षण का कारण बन जाती हैं। गति-शक्ति-जनित मूल-वायु में सङ्घर्षण से उत्पन्न शब्द, स्फुरित होकर पुनः गति में आता है। उसकी कर्ण-नाद भावना मात्र प्रणवानुमान में बाह्य शब्द-रूप से प्रकट कर सकते हैं। यथा—

मूल्य-शब्द 'अ'-कार गति में आने से 'उ'-कार और प्रस्सरण के हेतु से लयात्मक बिन्दु - भाव होकर 'अ+उ+म्' = 'ॐ'—यह शब्द विद्वज्जगत् में 'प्रणव' के नाम से पहचाना जाता है। 'अ'-कार शब्द में व्यापक होने से रजात्मक माना जाता है क्योंकि उसमें अन्य शब्द को उत्पन्न करने की शक्ति है। 'उ-कार' में गति-मय स्थिरता का भान सत्त्व की भावना व्यक्त करता है। उसमें शब्द की—जीवन को पोषण देने की शक्ति स्फुरित होती है। गति-जनित शब्द 'म्' प्रस्सरण शब्द को कर्ण-मात्रा से पृथक् करता है। इसलिए उसे लयात्मक मानते हैं और उसमें तम-दैवत् की धारणा व्यक्त होती है। अतः इस मूल व्यापक 'शब्द-मन्त्र' को **'त्रि-गुणात्मक शब्द-ब्रह्म'** नाम से विज्ञान बताता है।

'मन' की व्याख्या

'मन' जीवन की शक्ति का गुण है, तन्मात्राएँ उसके 'शस्त्र' हैं, बुद्धि धनुष है, विषय या सुखेच्छा 'वेध-बिन्दु' है, अहङ्कार 'प्रेरक' और चित्त 'साक्षी' है। चित्त में से जीवन-शक्ति स्फुरित होती है। उसी चिद्-वस्तु को व्यापक चैतन्य-रूप माना जाता है। मानने की शक्ति को 'मन' कहते हैं।

पहले बता चुके हैं कि गति-शक्ति-जनित मूल - शब्द 'अवकाश' में व्याप्त है। वह शब्द 'चिद्-शक्ति' के आधार से, बुद्धि को धारण कर 'मन' में जीवन - शक्ति प्रेरित करता है और इसलिए 'मन' तन्मात्राओं में खिंचता है।

अतः शब्द में अमुकामुक मात्रा स्वरों में 'मन' की विचित्र गति को स्तम्भित कर शब्दज-भावनावाले मार्ग में रोक देने की अथवा खिंच जाने की शक्ति विद्यमान है।

'स्वराणां साम्य-प्रवाहो सङ्गीतं' अर्थात् स्वर के साम्य-प्रवाह का नाम सङ्गीत है। ऊपर बताया है कि 'मन' और 'शब्द-स्वर' का आन्तरिक सम्बन्ध है अर्थात् शब्द, स्वर-गति द्वारा 'मन' में जीवन-शक्ति का सञ्चार करता है और शब्द-स्वर में 'मन' को स्तम्भित करने की शक्ति विद्यमान है। शर्त यह है कि वह शब्द-स्वर समत्व-पूर्वक 'मन' में प्रवेश करे।

शब्द-स्वर के दो अङ्ग हैं—१ सम और २ विषम। 'सम-भाव' एकाग्रता को और 'विषम-भाव' विकार को पैदा करता है। सङ्गीत में स्वर का समत्व-मय प्रवाह है। इसलिए उसमें 'मन' को एकाग्र करने की या आनन्द देने की शक्ति वर्तमान है। सङ्गीत जिस भावना से युक्त होता है, उसी जाति की भावनाओं में 'मन' खिंचता है। यदि यह भावना विषयासक्त है, तो विषय की तीव्रता बढ़ती है। यदि भक्ति-युक्त है, तो 'इष्ट' में 'मन' को तद्-रूप होने में सहायता देती है।

'चण्डो' के प्रवर्तक 'कौल-कल्पतरु' पण्डित देवीदत्त शुक्ल विरचित

गुरु-स्तव

सुन्दर स्वरूप भव्य तेज-पूर्ण गौर-वर्ण, वाम में बसति श्यामा अति छवि-धाम है।
भाल पै त्रिपुण्ड सोहै ताके मध्य रक्त-विन्दु, अधर पै हास्य-रेखा लसति ललाम है।
कर माँहि अक्ष - माल जपत रहत मन्त्र, ध्यान में बतावत सदैव आठों याम है।
परम उदार साधु क्षमा-शील ज्ञान - वन्त, शङ्कर - स्वरूप गुरु - देव को प्रणाम है ॥ १ ॥

अज्ञता मिटाय देत भीरुता भगाय देत, धीरता बढ़ाय देत करै पूर्ण काम है।
पशुता विलुप्त कर वीरता प्रदानै चारु, कुलता बढ़त आपु जासों अभिराम है।
कोऊ होय कैसो होय भेद - भाव करै नाँहि, राह पै लगाय देत ऐसो दया - धाम है।
परम उदार साधु क्षमा - शील ज्ञान - वन्त, शङ्कर स्वरूप गुरु - देव को प्रणाम है ॥ २ ॥

मन्त्र दै कै करि देत पूरि अभिलाष सारी, साधन - विधान दै कै करै सिद्ध काम है।
करि पूर्ण अभिषेक पाश - बन्ध काटि देत, कौलिक बनाय लेत दै कै कुल-नाम है।
तत्त्व का प्रबोध होत विकसत दिव्य ज्ञान, मिलत परम सुख और हू स्व-धाम है।
परम उदार साधु क्षमा - शील ज्ञान - वन्त, शङ्कर - स्वरूप गुरु-देव को प्रणाम है ॥ ३ ॥

जाकी पद - पादुका प्रपूजि होत सिद्ध नर, करत अधम तक जग माँहि नाम है।
जाकी कृपा-कोर लहि दीन जन होत सुखी, अज्ञ हू बनत विज्ञ पावत स्व-धाम है।
जाके पास कीन्हे वास मिलत सुपास अति, मातु को खवास जात बनि अभिराम है।
परम उदार साधु क्षमा - शील ज्ञान - वन्त, शङ्कर - स्वरूप गुरु-देव को प्रणाम है ॥ ४ ॥

विधि-रूप हरि-रूप शिव-रूप ब्रह्म - रूप, गुरु को स्वरूप ऐसो जान सकै कौन है!
चर औ अचर माँहि जो अखण्ड मण्डल सों, व्याप्त रहै ताको भेद देय गुरु जौन है।
अज्ञता से आँधर को ज्ञान की सलाका लाय, देत है प्रकाश सदा सुख केरो भौन है।
ऐसे पुरुषोत्तम को सतत प्रणाम, जाको ध्यान किए होत मन शान्त और मौन है ॥ ५ ॥

रजि० सं० ३२९८१/५७] जुलाई, १९९१ [रजि० सं० ए०डी०९६
सम्पादक, प्रकाशक एवं मुद्रक : श्री ऋतशील शर्मा, परा वाणी प्रेस, प्रयाग-२११००६

तन्त्र-संग्रह

हिन्दी पुरश्चरण रसोल्लास

हिन्दी कामाख्या तन्त्र

१५-०० रु०

प्रकाशक

कल्याण मन्दिर प्रकाशन
अलोपीबाग, इलाहाबाद